

मजदूर बिगड़

किसान आन्दोलन और
स्वामीनाथन आयोग की रिपोर्ट
लागू करने का सवाल **7**

बहुत होते हैं सत्तर साल
अपनी बरबादी को
पहचानने के लिए! **8**

जीडीपी की विकास दर में
गिरावट और अर्थव्यवस्था
की बिगड़ती हालत **16**

जनता में बढ़ते असन्तोष से घबराये भगवा सत्ताधारी

मगर जनता को आपस में लड़ाने-बाँटने-बहकाने की साज़िशों से सावधान रहना होगा!

अभी हाल में राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ ने अपने तमाम संगठनों से कहा कि वे मोदी सरकार के ग़लत कामों का विरोध करने में संकोच न करें और जहाँ ज़रूरी समझें वहाँ विरोध और आन्दोलन भी करें। दरअसल संघ परिवार को जनता के टूटते धीरज और बढ़ते असन्तोष का अहसास होने लगा और वह पहले से ही इसकी पेशबन्दी करने की जुगत में भिड़ गया है।

पिछले साढ़े तीन साल से जनता को सिर्फ़ जुमलों की अफ़ीम चटायी जा रही थी और देश की एक अच्छी-खासी आबादी इस उम्मीद में सारी परेशानियाँ झेल रही थी कि मोदी सरकार के दिखावे

सपनों में से कुछ तो पूरे होंगे। मगर अब ज़िन्दगी की बढ़ती तकलीफ़ें और एक-एक करके टूटते सारे वादे बर्दाश्त की हदों को पार करने लगे हैं। 'बहुत हुई महँगाई की मार' कहकर सत्ता में आयी मोदी सरकार ने लोगों पर महँगाई का पहाड़ लाद दिया है। खाने-पीने की चीज़ों, दवाओं, शिक्षा, किराया-भाड़ा, गैस-डीज़ल-पेट्रोल सबकी कीमतें बुलेट ट्रेन की रफ़्तार से लगातार बढ़ती जा रही हैं। रोज़गार बढ़ने के बजाय घट रहा है। भ्रष्टाचार, अपराध, गन्दगी किसी चीज़ में कमी नहीं आयी है।

हमने मोदी की जीत के बाद जो भविष्यवाणी की थी वह अक्षरशः सही

सम्पादक मण्डल

साबित हो रही है। विदेशों में जमा काला धन की एक पाई भी वापस नहीं आयी है। देश के हर नागरिक के खाते में 15 लाख रुपये आना तो दूर, फूटी कौड़ी भी नहीं आयेगी। नोटबन्दी से काला धन कम होने के बजाय उसका एक हिस्सा सफ़ेद हो गया और आम लोगों की ईमान की कमाई लुट गयी। निजीकरण की अन्धाधुन्ध मुहिम में सार्वजनिक क्षेत्र के उपक्रमों को हड़पकर देशी-विदेशी कम्पनियाँ जमकर छूटनी कर रही हैं। न केवल ब्लू कॉलर नौकरियों बल्कि व्हाइट कॉलर नौकरियों में

भी अभूतपूर्व कटौती हो रही है, और इंजीनियरों, टेकनीशियनों, क्लर्कों की नौकरियों के भी लाले पड़ गये हैं। बेरोज़गारी की दर नयी ऊँचाइयों पर है और छात्रों-युवाओं के आन्दोलन जगह-जगह फूट रहे हैं। मोदी के "श्रम सुधारों" के परिणामस्वरूप मजदूरों के रहे-सहे अधिकार भी छिन चुके हैं, असंगठित मजदूरों के अनुपात में और बढ़ोत्तरी हुई है, बारह-चौदह घण्टे सपरिवार खटने के बावजूद मजदूर परिवारों का जीना मुहाल है।

जल, जंगल, ज़मीन, खदान, सब कुछ पहले से कई गुना अधिक बड़े पैमाने पर देशी-विदेशी कॉरपोरेट

मगरमच्छों को सौंपे जा रहे हैं, पर्यावरण आदि के संरक्षण के सारे नियम-कानूनों को ताक पर धर दिया गया है। रेल जैसे उपक्रमों के निजीकरण की झोंक में तबाही की राह पर धकेल दिया गया है और लोगों की जान से खिलवाड़ किया जा रहा है। सिर्फ़ पैसे बटोरने और लोगों को आपस में लड़ाने में माहिर निकम्मे, हृदयहीन और भ्रष्ट लोगों के हाथों में सरकारी तंत्र पंगु होता जा रहा है जिसकी सबसे भयानक मिसाल गोरखपुर से लेकर झारखण्ड और मध्य प्रदेश तक सैकड़ों बच्चों की मौत है। शिक्षा और स्वास्थ्य जैसे बुनियादी मद्दों में जहाँ

(पेज 12 पर जारी)

'भारत में आय असमानता, 1922-2014 : ब्रिटिश राज से खरबपति राज?'

प्रसिद्ध अर्थशास्त्रियों लुकास चांसल और थॉमस पिकेट्टी की रिपोर्ट

1980 के दशक में सार्वजनिक पूँजी निवेश को कम कर देशी-विदेशी निजी पूँजी के अबाध निवेश और बाज़ार में उसके एकाधिकार पर से बन्धन हटाकर नवउदारवादी आर्थिक नीतियों की शुरुआत हुई थी। इन्हीं नीतियों को कॉर्पोरेट नियन्त्रित मीडिया में 'सुधार' कहा जाता है। तब से सभी दलों के पूँजीवादी राजनीतिज्ञ, अर्थशास्त्री, विश्लेषक और भोंपू कॉर्पोरेट मीडिया हमें बताते आ रहे हैं कि सामाजिक कल्याण नहीं बल्कि अर्थव्यवस्था में तीव्र वृद्धि ही आर्थिक नीतियों का एकमात्र लक्ष्य होना चाहिए। उनका कहना है कि अगर अर्थव्यवस्था में तीव्र वृद्धि होगी

तो अस्थायी तौर पर ऐसा लगेगा कि सिर्फ़ कुछ अमीर लोगों को ही इसका फ़ायदा हो रहा है परन्तु कुछ समय बाद इसका फ़ायदा ऊपर से रिसते-रिसते नीचे ग़रीब मेहनतकश लोगों तक भी पहुँचेगा और उनकी आर्थिक स्थिति सुधरेगी। इसी बात को सही सिद्ध करने के लिए पूँजीवादी अर्थशास्त्री बताते आये हैं कि हर साल कितने लोग ग़रीबी की रेखा के ऊपर आ गये, जबकि यह ग़रीबी की रेखा सारी वृद्धि के बाद भी वहीं की वहीं बनी हुई है। लेकिन ये अर्थशास्त्री कभी यह जानने-बताने की कोशिश नहीं करते कि समाज की सामूहिक सम्पदा में किसका हिस्सा घटा है और किसका

हिस्सा बढ़ा है, क्योंकि इसी आधार पर यह तय करना मुमकिन है कि इन तथाकथित 'सुधारों' का असली लाभ किसे हुआ है, और नुक़सान किसे।

हाल ही में दो फ़्रांसीसी अर्थशास्त्रियों, लुकास चांसल और थॉमस पिकेट्टी, ने 1922 से 2014 के दौरान भारत की कुल जनसंख्या में राष्ट्रीय आय के वितरण और उससे होने वाली आर्थिक असमानता पर शोध किया है। उन्होंने अपने अध्ययन के नतीजों को जो शीर्षक दिया है - 'भारत में आय असमानता, 1922-2014: ब्रिटिश राज से खरबपति राज?' - वह स्वयं ही बहुत कुछ कह देता है। इस शोध का आधार भारत के राष्ट्रीय

बहीखाते, आयकर विभाग के आँकड़े, राष्ट्रीय सैम्पल सर्वेक्षण संगठन के आय व उपभोग सर्वेक्षण तथा अन्य विभिन्न संगठनों द्वारा समय-समय पर किये गये सर्वेक्षण हैं। इससे प्राप्त निष्कर्षों के आधार पर हम यह बेहतर ढंग से समझ सकते हैं कि इन आर्थिक 'सुधारों' से समाज के किस तबके को लाभ हुआ है और किसे हानि।

1980 के दशक में शुरू हुए इन नवउदारवादी आर्थिक सुधारों का परिणाम यह हुआ है कि इन 34 साल के दौरान महँगाई के साथ समायोजित कर देखने पर नीचे के 50% लोगों की आमदनी में मात्र 89% की वृद्धि हुई

अर्थात यह दोगुनी भी नहीं हुई। इसके ऊपर के मँझले 40% को लें, तो इनकी आमदनी में भी लगभग इतनी ही अर्थात 93% की वृद्धि हुई अर्थात ये भी दोगुने से कम ही रहे। लेकिन इनके ऊपर शीर्ष के 10% की आमदनी 394% बढ़ गयी अर्थात 5 गुना हो गयी। इसमें से भी अगर शीर्ष के 1% को ही लें तो इनकी आय में 750% का इजाफ़ा हुआ अर्थात यह साढ़े आठ गुना हो गयी। इसका भी ऊपरी दसवाँ हिस्सा अर्थात सिर्फ़ 13 लाख की संख्या लें तो इनकी आमदनी साढ़े 12 गुना हो गयी। इसमें भी अगर ऊपर के सवा लाख को लें तो इनकी

(पेज 12 पर जारी)

बजा बिगुल मेहनतकश जाग, चिंगारी से लगेगी आग!

आपस की बात

लेखक को बधाई

आगस्त अंक का लेख - आजादी कूच के सन्दर्भ में... एक सम्भावना-सम्पन्न आन्दोलन के अन्तर्विरोध और भविष्य का प्रश्न... शिशिर, पढ़ा। बहुत दिनों बाद इतना सुन्दर, सारगर्भित लेख पढ़ने को मिला इस विषय पर। गदगद हो गया। जिस बात ने मुझे सबसे ज्यादा प्रभावित किया वो है सैद्धान्तिक स्तर पर ज़रा भी समझौता किये बगैर विनम्र बने रहना, ज्ञानी होने के अहंकार को पास ना फटकने

देना। 'कम्युनिस्टों' के अन्दाज़-ए-बयाँ अम्बेडकर के मुद्दे पर हमेशा तिरस्कारपूर्ण रहे हैं, ये लेख बड़ा ही सुखद बदलाव है। जिमेश मेवानी में वे सम्भावनाएँ अभी नज़र आती हैं कि जाति तोड़ो आन्दोलन से वर्ग विहीन आन्दोलन की तरफ़ जा सकें, दूसरे रिपब्लिकन तो कब के पतन को प्राप्त हो चुके। अम्बेडकर के मूल्यांकन में ये एहतियात खास तौर से क्राबिले तारीफ़ है कि कोई अम्बेडकरवादी बिना बिदके कुछ ज़रूर सीख सकता है। विनम्रता को खुशामद नहीं बनने दिया गया, 'जय भीम

लाल सलाम' के आज के फ़ैशनेबुल नारे के लोभ से बचते हुए, वैचारिक स्पष्टता और तथ्यों को कहीं भी छुपाये बगैर। वाहा मैं लेखक को बधाई देना चाहता हूँ। कई बार स्थान अभाव में कुछ विषयों को अतिरिक्त संक्षिप्त किया गया है। उम्मीद है अगले अंक में इस विषय को तरजीह देकर पूर्ण किया जायेगा।

विनम्र अभिवादन सहित,

- सत्यवीर सिंह

405, प्रगति अपार्टमेंट,
सेक्टर 21 सी, फ़रीदाबाद

दोस्तो, हम सभी को एक साथ मिलकर लड़ना चाहिए

मेरा नाम विकास कुमार है। मैं बिहार का रहनेवाला हूँ और हरियाणा में काम करता हूँ। मैं घर से करीब 1100 किलोमीटर दूर रोजी-रोटी कमाने आया हूँ। मेरी उम्र 19 साल है। मैंने नवीं कक्षा तक की पढ़ाई की है। तीन भाइयों और एक बहन में मैं सबसे बड़ा हूँ। मजबूरी के कारण मुझे कम उम्र में ही पढ़ाई छोड़कर काम करने जाना पड़ा। मेरे पिताजी ऑटो चलाते थे, एक दिन उनकी गाड़ी पलट गयी, जिसके कारण नौ लोग घायल हो गये, इस वजह से 3-4 लाख खर्च हो गया था, और कर्ज़ चढ़ गया था। पढ़ने की इच्छा थी फिर भी मुझे मजबूरी में आना पड़ा। अगली बार जब गाँव गया, तो मेरे दोस्त मुझे दुबारा बाहर जाकर कमाने से रोक रहे थे, मेरी भी वही इच्छा थी, लेकिन मुझे मजबूरी में आना पड़ा। जब मैं पहली बार गाँव से बाहर निकला तो दिल्ली गया। वहाँ मैंने समयपुर बदली में पौचिंग लाइन में काम किया। बहुत काम करने के बावजूद वहाँ पर काम चलने लायक भी पैसा नहीं मिलता था। फिर मैं वहाँ से

हरियाणा आया बिनौला गाँव में, यहाँ मेरे रिश्तेदार रहते थे। यहाँ पर बहुत सारे कल-कारखाने थे। यहाँ अधिकतर कारखानों में गाड़ियों के पुर्जे बनते थे। तब मुझे समझ में आया कि जो गाड़ियाँ सड़कों पर बड़ी तेज़ी से दौड़ती हैं, उन्हें मेरे जैसे लड़के और मज़दूर बनाते हैं। हर तरफ़ मज़दूरों का रेला था। यहाँ से थोड़ी दूर पर मानेसर-गुडगाँव-धारुहेरा-बावल हर तरफ़ मज़दूरों का ऐसा ही झुण्ड दीखता था। मैं अपने रिश्तेदार के साथ लॉज में उनके कमरे पर रुका। उन छोटे कमरों में मेरा दम घुटता है। एक कमरे में हम 4 से 5 आदमी रहते हैं। मेरे रिश्तेदार मार्क एजोस्ट सिस्टम लिमिटेड में काम करते थे। उन्होंने मेरा काम मीनाक्षी पोलिमर्स में लगवा दिया। यहाँ पर करीब 100 लोग काम करते थे। यहाँ बहुत बुरी तरह से हमारा शोषण होता था। कम्पनी फ़र्श पर झाड़ू-पोछा भी लगवाती थी। और कभी प्रोडक्शन का काम नहीं हो तो नाली वगैरह भी साफ़ करवाती थी। काम जबरिया दबाव में कराया जाता था, बारह घण्टे का काम

आठ घण्टे में करवाया जाता था। अन्दर बैठने की व्यवस्था नहीं थी। बारिश के समय खाने-पीने के लिए कोई जगह नहीं थी। गर्मी में काम करवाया जाता और पीने के लिए गर्म पानी दिया जाता। मैं दिन-रात मेहनत करता था, ताकि कुछ पैसे कमा बचा सकूँ। लेकिन यहाँ मालिक जिन्दा रहने लायक भी पैसा नहीं दे रहा था। हम अपना हक़ माँग रहे हैं और मालिक दे नहीं रहा है, हम यूनिन बनाने का प्रयास कर रहे हैं, मालिक बनने नहीं दे रहा है। मैं जीवन में आगे बढ़ना चाहता हूँ, लेकिन मैं अब समझ गया हूँ कि मैं अकेले आगे नहीं बढ़ सकता। हम सबकी जिन्दगी खराब है, इसीलिए हम सभी को एक साथ मिलकर लड़ना चाहिए। इसीलिए दोस्तो और मज़दूर भाइयों, अपना हक़ माँगें और यूनिन बनायें।

- विकास

ऑटोमोबाइल मज़दूर, गुडगाँव

सबसे बुरी मार मेहनतकशों पर ही पड़नी है

(पेज 16 से आगे)
भी प्रभावित होगा। खुद सरकारी बैंक स्टेट बैंक ऑफ़ इण्डिया का कहना है कि यह गिरावट तात्कालिक नहीं बल्कि संरचनात्मक है और अगली कई तिमाहियों तक इससे निकलने की सम्भावना नहीं है। खुद वित्त मन्त्री अरुण जेटली को भी मानना पड़ा है कि यह चिन्ताजनक है लेकिन बीजेपी अध्यक्ष अमित शाह इसे 'तकनीकी समस्या' बता रहे हैं। शायद इसलिए कि उनके सोशल मीडिया प्रचार की तकनीक में

इस समस्या का सुलझाकर अर्थव्यवस्था को तेज़ गति से बढ़ाकर दिखा सकने का कोई उपाय नहीं है।

लेकिन वास्तविकता यह है कि यह निजी सम्पत्ति और मुनाफ़े पर आधारित पूँजीवादी उत्पादन व्यवस्था के निरन्तर गहराते संकट का ही एक अनिवार्य अंग है, जिसके चलते नये रोज़गार सृजित नहीं हो रहे, वास्तविक मज़दूरी कम हो रही है, आम जनता की आमदनी में संकुचन से बाज़ार में माँग संकुचित होती है, स्थापित पूँजी निवेश से हुआ

उत्पादन बाज़ार माँग से ज्यादा हो जाता है; अतः नया पूँजी निवेश बन्द होकर स्थापित उद्योग में गलाकाट प्रतियोगिता से कई उद्योग बन्द होते हैं। इस संकट का कोई स्थाई समाधान पूँजीवादी उत्पादन व्यवस्था के पास नहीं है, इसलिए संकट को समाप्त करने के लिए उठाये गये सभी क़दम और नये संकट को जन्म देते रहते हैं। लेकिन इन सब संकटों की मार आखिर में मेहनतकश तबक़े के सिर पर ही पड़ती है।

"बुर्जुआ अख़बार पूँजी की विशाल राशियों के दम पर चलते हैं। मज़दूरों के अख़बार खुद मज़दूरों द्वारा इकट्ठा किये गये पैसे से चलते हैं।" - लेनिन

'मज़दूर बिगुल' मज़दूरों का अपना अख़बार है।

यह आपकी नियमित आर्थिक मदद के बिना नहीं चल सकता।

बिगुल के लिए सहयोग भेजिये/जुटाइये।

सहयोग कूपन माँगने के लिए मज़दूर बिगुल कार्यालय को लिखिये।

पूँजीपतियों के पास दर्जनों अख़बार और टीवी चैनल हैं। मज़दूरों के पास है उनकी आवाज़ 'मज़दूर बिगुल'! इसे हर मज़दूर के पास पहुँचाने में हमारा साथ दें।

मज़दूर बिगुल के लिए अपने कारख़ाने, दफ़्तर या बस्ती की रिपोर्टें, लेख, पत्र या सुझाव

आप इन तरीक़ों से भेज सकते हैं:

डाक से भेजने का पता: मज़दूर बिगुल, द्वारा जनचेतना, डी-68, निरालानगर, लखनऊ-226020

ईमेल से भेजने का पता: bigulakhbar@gmail.com

मज़दूर बिगुल की वेबसाइट

www.mazdoorbigul.net

इस वेबसाइट पर दिसम्बर 2007 से अब तक बिगुल के सभी अंक क्रमवार, उससे पहले के कुछ अंकों की सामग्री तथा राहुल फ़ाउण्डेशन से प्रकाशित सभी बिगुल पुस्तिकाएँ उपलब्ध हैं। बिगुल के प्रवेशांक से लेकर नवम्बर 2007 तक के सभी अंक भी वेबसाइट पर क्रमशः उपलब्ध कराये जा रहे हैं। मज़दूर बिगुल का हर नया अंक प्रकाशित होते ही वेबसाइट पर निःशुल्क पढ़ा जा सकता है।

आप इस फ़ेसबुक पेज के जरिये भी 'मज़दूर बिगुल' से जुड़ सकते हैं :

www.facebook.com/MazdoorBigul

'मज़दूर बिगुल' का स्वरूप, उद्देश्य और ज़िम्मेदारियाँ

1. 'मज़दूर बिगुल' व्यापक मेहनतकश आबादी के बीच क्रान्तिकारी राजनीतिक शिक्षक और प्रचारक का काम करेगा। यह मज़दूरों के बीच क्रान्तिकारी वैज्ञानिक विचारधारा का प्रचार करेगा और सच्ची सर्वहारा संस्कृति का प्रचार करेगा। यह दुनिया की क्रान्तियों के इतिहास और शिक्षाओं से, अपने देश के वर्ग संघर्षों और मज़दूर आन्दोलन के इतिहास और सबक़ से मज़दूर वर्ग को परिचित करायेगा तथा तमाम पूँजीवादी अफ़वाहों-कुप्रचारों का भण्डाफोड़ करेगा।

2. 'मज़दूर बिगुल' भारतीय क्रान्ति के स्वरूप, रास्ते और समस्याओं के बारे में क्रान्तिकारी कम्युनिस्टों के बीच जारी बहसों को नियमित रूप से छापेगा और 'बिगुल' देश और दुनिया की राजनीतिक घटनाओं और आर्थिक स्थितियों के सही विश्लेषण से मज़दूर वर्ग को शिक्षित करने का काम करेगा।

3. 'मज़दूर बिगुल' स्वयं ऐसी बहसें लगातार चलायेगा ताकि मज़दूरों की राजनीतिक शिक्षा हो तथा वे सही लाइन की सोच-समझ से लैस होकर क्रान्तिकारी पार्टियों के बनने की प्रक्रिया में शामिल हो सकें और व्यवहार में सही लाइन के सत्यापन का आधार तैयार हो।

4. 'मज़दूर बिगुल' मज़दूर वर्ग के बीच राजनीतिक प्रचार और शिक्षा की कार्यवाही चलाते हुए सर्वहारा क्रान्ति के ऐतिहासिक मिशन से उसे परिचित करायेगा, उसे आर्थिक संघर्षों के साथ ही राजनीतिक अधिकारों के लिए भी लड़ना सिखायेगा, दुअन्नी-चवन्नीवादी भूजाछोर "कम्युनिस्टों" और पूँजीवादी पार्टियों के दुमछल्ले या व्यक्तिवादी-अराजकतावादी ट्रेडयूनिनों से आगाह करते हुए उसे हर तरह के अर्थवाद और सुधारवाद से लड़ना सिखायेगा तथा उसे सच्ची क्रान्तिकारी चेतना से लैस करेगा। यह सर्वहारा की क्रतारों से क्रान्तिकारी भरती के काम में सहयोगी बनेगा।

5. 'मज़दूर बिगुल' मज़दूर वर्ग के क्रान्तिकारी शिक्षक, प्रचारक और आह्वानकर्ता के अतिरिक्त क्रान्तिकारी संगठनकर्ता और आन्दोलनकर्ता की भी भूमिका निभायेगा।

प्रिय पाठको,

बहुत से सदस्यों को 'मज़दूर बिगुल' नियमित भेजा जा रहा है, लेकिन काफ़ी समय से हमें उनकी ओर से न कोई जवाब नहीं मिला और न ही बकाया राशि। आपको बताने की ज़रूरत नहीं कि मज़दूरों का यह अख़बार लगातार आर्थिक समस्या के बीच ही निकालना होता है और इसे जारी रखने के लिए हमें आपके सहयोग की ज़रूरत है। अगर आपको 'मज़दूर बिगुल' का प्रकाशन ज़रूरी लगता है और आप इसके अंक पाते रहना चाहते हैं तो हमारा अनुरोध है कि आप कृपया जल्द से जल्द अपनी सदस्यता राशि भेज दें। आप हमें मनीऑर्डर भेज सकते हैं या सीधे बैंक खाते में जमा करा सकते हैं।

मनीऑर्डर के लिए पता :

मज़दूर बिगुल, द्वारा जनचेतना

डी-68, निरालानगर, लखनऊ-226020

बैंक खाते का विवरण : Mazdoor Bigul

खाता संख्या : 0762002109003787, IFSC: PUNB0076200

पंजाब नेशनल बैंक, निशातगंज शाखा, लखनऊ

सदस्यता : वार्षिक : 70 रुपये (डाकखर्च सहित); आजीवन : 2000 रुपये
मज़दूर बिगुल के बारे में किसी भी सूचना के लिए आप हमसे इन माध्यमों से सम्पर्क कर सकते हैं :

फ़ोन : 0522-4108495, 8853093555, 9936650658

ईमेल : bigulakhbar@gmail.com

फ़ेसबुक : www.facebook.com/MazdoorBigul

मज़दूर बिगुल

सम्पादकीय कार्यालय : 69 ए-1, बाबा का पुरवा, पेपरमिल रोड, निशातगंज, लखनऊ-226006

फ़ोन: 8853093555

दिल्ली सम्पर्क : बी-100, मुकुन्द विहार, करावलनगर, दिल्ली-94, फ़ोन: 011-64623928

ईमेल : bigulakhbar@gmail.com

मूल्य : एक प्रति - 5/- रुपये

वार्षिक - 70/- रुपये (डाक खर्च सहित)

आजीवन सदस्यता - 2000/- रुपये

आइसिन मज़दूरों का बहादुराना संघर्ष और ऑटोमोबाइल सेक्टर के मज़दूरों लिए कुछ ज़रूरी सबक

‘आइसिन ऑटोमोटिव हरियाणा प्राइवेट लिमिटेड’ के मज़दूरों का धरना फ़िलहाल आईएमटी चौक रोहतक पर समाप्त हो चुका है। करीब 90 दिनों तक चले संघर्ष ने सोचने के लिए कई नुस्ते ऑटोमोबाइल सेक्टर के मज़दूरों के सामने रखे हैं। मज़दूर बिगुल के पिछले अंकों में आइसिन के मज़दूरों के संघर्ष पर रपटें दी जाती रही हैं। ज्ञात हो कि हरियाणा की रोहतक आईएमटी में स्थित आइसिन ऑटोमोटिव हरियाणा प्राइवेट लिमिटेड जापानी मालिकाने वाली एक वेण्डर कम्पनी है। यह कम्पनी खास तौर पर मारुती, टोयोटा, होण्डा इत्यादि के लिए ‘डोर लॉक’, ‘इनडोर-आउटडोर हैण्डल’ समेत कुछ अन्य उत्पादों की आपूर्ति करती है। 3 मई को धरना शुरू होने से पहले कम्पनी में करीब 270 स्थाई मज़दूर, करीब 250 ट्रेनी मज़दूर और लगभग 150 ठेका मज़दूर काम कर रहे थे। कहने के लिए यह एक वेण्डर कम्पनी है, किन्तु आइसिन ग्रुप दुनियाभर के 7 सबसे बड़े ग्रुपों में से एक है तथा दुनियाभर में इसकी 195 के करीब शाखाएँ हैं। इससे पता चलता है कि कितनी बड़ी पूँजी की ताकत के साथ उक्त कम्पनी बाज़ार की प्रतिस्पर्धा में खड़ी है। भारत में इसकी दो कम्पनियाँ हैं जिनमें एक रोहतक में तो दूसरी बैंगलोर में स्थित है।

कम्पनी में काम करने वाले मज़दूर साथी बताते हैं कि यहाँ पर कार्यस्थिति बेहद खराब थी, 4-5 साल से काम करने वाले मज़दूरों को भी 8,600 से लेकर 9-10 हजार में खटाया जाता था। मैनेजमेण्ट का ज़बरदस्त दबाव मज़दूरों पर रहता था, उत्पादन लक्ष्य लगातार बढ़ता ही रहा तथा कम्पनी में काम शुरू होने के बाद उत्पादन कई गुना बढ़ गया, साथ ही लाइन पर काम करने वाले मज़दूरों की संख्या भी घट गयी, श्रम की उत्पादकता बढ़ने के बावजूद तनख्वाहों में कोई बढ़ोत्तरी नहीं हुई, कई मज़दूरों को तो 1-2 रुपये तक की सालाना बढ़ोत्तरी मिली! कम्पनी का लगातार विस्तार हो रहा था व मैनेजर्स की तनख्वाहें तो कई गुना बढ़ गयीं, टूटी-फूटी मोटरसाइकिलों पर आने वाले चमचमाती गाड़ियों तक पहुँच गये, उनके कोठी-बाँगले खड़े हो गये, घरों में लिफ्ट तक लग गयी किन्तु मज़दूरों के हालात बद से बदतर होते चले गये, मज़दूरों की ‘सेलरी’ बढ़ाने की बात आते ही कम्पनी के घाटे का रोना रोया जाता था, ‘ग्रेडिंग सिस्टम’ के द्वारा मज़दूरों को लगातार आपस में बाँटकर रखा जाता था, चाय व भोजन का ब्रेक बहुत थोड़े समय का होता था, मज़दूरों के साथ गाली-गलौज और गधे जैसे शब्दों का प्रयोग आम बात थी, महिला मज़दूरों के साथ भी छेड़छाड़ से लेकर ज़्यादातियाँ हो जाती थी। एक मज़दूर साथी ने आपबीती सुनायी कि जब वे घर गये हुए थे तो उसी दौरान दुर्घटनावश उनके पिताजी नहीं रहे जिसके कारण उन्हें घर पर समय लग

गया। उन्होंने कम्पनी में सूचित भी कर दिया था, किन्तु जब वे लौटकर आये तो कोई मदद करना तो दूर उल्टा मैनेजर का यह कहना था कि आगे से छुट्टी ‘प्लान’ करके जाया करो!

इन्हीं सब कारणों से मज़दूरों ने एकजुट होने व यूनियन बनाने का फैसला लिया। पंजीकरण हेतु फ़ाइल श्रम विभाग में लगा दी गयी। ज़्यादा समय नहीं हुआ था कि मैनेजमेण्ट को इसकी भनक लग गयी और षडयन्त्र के तहत श्रम विभाग के साथ साँठगाँठ करके पहले तो यूनियन की पंजीकरण फ़ाइल रद्द करवायी और फिर अनुशासन के नाम पर मज़दूरों पर छँटनी का पाटा चलाना शुरू कर दिया। कम्पनी मज़दूरों की एकता पर हमला करने का लगातार मौक़ा तलाश रही थी, फ़ायर ब्रिगेड की गाड़ी से लेकर पुलिस के सिपाही कम्पनी में पहले ही तैनात हो गये थे, किन्तु जब कामयाबी मिलती नहीं दिखी, तो 3 मई को सुबह वाली शिफ़्ट में 20 मज़दूरों को बिना किसी कारण से काम पर से निकालने का नोटिस लगाकर तालाबन्दी कर दी, भारी मात्रा में पुलिस बल लगाकर मज़दूरों को डराने के प्रयास किये गये तथा एक ‘अण्डरटेकिंग’ फॉर्म मज़दूरों को थमा दिया गया, जिसका लुब्बेलुबाब यह था कि मज़दूर कम्पनी से प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष तौर पर कोई माँग नहीं कर सकते। यहीं से आइसिन ऑटोमोटिव हरियाणा मज़दूर यूनियन के नेतृत्व में आइसिन के मज़दूरों का जुझारू संघर्ष शुरू हुआ। 3 मई से लेकर 31 मई तक यानी 29 दिन तक मज़दूर कम्पनी गेट के पास जमे रहे, अलग-अलग तरीकों से मज़दूर श्रम विभाग, उपायुक्त कार्यालय रोहतक, स्थानीय, राज्यस्तरीय और राष्ट्रीय नेताओं व सम्बद्ध मन्त्रालयों तक अपनी बात पहुँचाते रहे लेकिन किसी के कानों पर जूँ तक नहीं रेंगी, किसी ने भी न्याय के पक्ष में मज़दूरों का साथ नहीं दिया। हारकर 31 मई को मज़दूरों ने गेट जाम कर दिया तो तुरन्त प्रशासन हरकत में आ गया और लाठीचार्ज करके 425 मज़दूरों, अभिभावकों और मज़दूर कार्यकर्ताओं को विभिन्न धाराएँ लगाकर जेल में ठूस दिया गया। जेल जाने वालों में 35 महिलाएँ भी शामिल थीं। इसके बाद कम्पनी को कोर्ट से ‘स्टे’ मिल गया और मज़दूरों को कम्पनी से निश्चित दूरी पर बैठना पड़ा। लम्बे समय तक मज़दूर आईएमटी गेट पर बैठे रहे। तीन महीने आते-आते तमाम उतार-चढ़ाव के बाद अन्त में आइसिन का मज़दूर आन्दोलन बिखराव की तरफ़ गया तथा अब केवल कानूनी लड़ाई जारी है।

बिगुल मज़दूर दस्ता ने आइसिन के संघर्ष में प्रारम्भ से ही यथासम्भव भागीदारी की। हमें लगता है कि भले ही सेक्टरगत और इलाक़ाई एकजुटता के बग़ैर ऑटोमोबाइल सेक्टर के आन्दोलनों की एक वस्तुगत सीमा है किन्तु एकजुटता, जुझारुता और कुर्बानी

का ज़रूरी होने के बावजूद आइसिन के मज़दूरों का आन्दोलन उतना भी हासिल नहीं कर पाया, जितना कि सम्भवतया हासिल किया जा सकता था। मज़दूर आन्दोलन न केवल अपनी जीतों से सीखता है, बल्कि आंशिक तौर पर मिली हारों भी उसे शिक्षित करती हैं। अब हम थोड़ी दूरी लेकर आन्दोलन को देख सकते हैं, इसमें मौजूद विभिन्न प्रवृत्तियों और रुझानों पर साफ़ नज़र होकर बात कर सकते हैं।

सम्भावना सम्पन्न आन्दोलन

दर्जनभर को छोड़कर कम्पनी में काम करने वाले कुल मज़दूरों की लगभग सारी की सारी संख्या आन्दोलन में शामिल थी। आन्दोलन में न केवल कैजुअल व ट्रेनी मज़दूर खड़े थे, बल्कि स्थायी मज़दूर भी कन्धे से कन्धा मिलाकर संघर्ष में अन्त तक डटे रहे। शुरू में जिन 20 मज़दूरों को निकालने का नोटिस लगाया गया था, वे भी दरअसल ट्रेनी मज़दूर ही थे। संघर्ष की अगुवाई कर रहे मज़दूर साथियों ने पूरी निष्ठा, तत्परता और लगन के साथ अपनी जिम्मेदारियों का निर्वहन किया और कर रहे हैं किन्तु सामने मालिक-प्रशासन का गठजोड़ और साथ में सरकारी शह के रूप में दुश्मन बहुत बड़ा था और ताकत छोटी व सीमिता। मज़दूरों ने करीब एक महीने तक सामूहिक भोजनालय चलाया। स्थानीय और ऑटोमोबाइल सेक्टर के मज़दूरों सहित आस-पास की आबादी से सहयोग जुटाया गया। संघर्ष शुरू होते ही होने वाली मैनेजमेण्ट के साथ बैठकों में मज़दूर इस बात के लिए करीब-करीब सहमत हो गये थे कि हम यूनियन फ़ाइल रद्द करवाने पर कोई कार्रवाई नहीं करेंगे, किन्तु सभी मज़दूरों को अन्दर लिया जाये, उसके बाद धीरे-धीरे पहले निकाले गये की संख्या 20 से बढ़कर 30 हुई और उसके बाद लगभग हर अगली बैठक में ‘टर्मिनेट’ व ‘सस्पेंड’ कर दिये गये मज़दूरों की संख्या बढ़ती चली गयी। मज़दूरों की जब तक एक चीज़ पर सहमति बनती, तब तक मालिक पक्ष अगली चाल चल देता था। यूनियन नेतृत्व की ईमानदारी और कुर्बानी की भावना बेशक सवालों के घेरे से परे थी, किन्तु संघर्ष का कोई पुराना अनुभव न होने के कारण कई जगह पर कुछ चूकें होना भी लाज़िमी था। हालाँकि मज़दूरों की कमेटी व्यवस्था और सामूहिक नेतृत्व काफ़ी हद तक लागू था, लेकिन बिना संघर्षों के लम्बे अनुभवों यानी नौसिखिया होने के कारण नेतृत्व खुद कई बार अनिर्णय की स्थिति में होता था या कई बार निर्णय ही ग़लत ले लिये गये। आन्दोलन के दौरान लगभग जितनी भी प्रदर्शनात्मक गतिविधियाँ की गयीं, वे लगभग सभी-की-सभी खासे समय अन्तराल के बीच की गयीं यानी मालिक पक्ष पर दबाव निरन्तरता में बना नहीं रह सका। लम्बे समय तक अडिग रहकर संघर्ष चलाने

के बावजूद भी आन्दोलन को ठोस रूप से ऑटोमोबाइल सेक्टर में चल रहे अन्य संघर्षों के साथ नहीं जोड़ा जा सका। आन्दोलन में मुख्य तौर पर दो विजातीय प्रवृत्तियाँ अन्त तक मौजूद रही जिन्होंने समय-ब-समय आन्दोलन को आपने कारनामों से खासा नुक़सान पहुँचाने का काम किया।

“इंक्रलाबी कॉमरेडों” की भूमिका: ‘पहाड़ों पर बर्फ़ पड़ रही हो तो मैदानों में भी कम्बल ओढ़कर बैठो’!

“कानूनी सलाहकार” के तौर पर “इंक्रलाबी कॉमरेड” लम्बे समय से यूनियन के नेतृत्वकारी साथियों के सम्पर्क में थे। अपने अनुभववादी, अर्थवादी और अराजकतावादी-संघाधिपत्यवादी तरीकों से ये लोग पहले भी मज़दूर आन्दोलनों में खासा भरभण्ड मचा चुके हैं। सबसे पहले तो अपने संकीर्ण सांगठनिक हितों के चलते आइसिन के मज़दूर आन्दोलन में भी इन्होंने हमेशा की तरह साँयफुस्स की कुनीति का परिचय दिया। जैसे कि बैठक में बात न करके नेतृत्वकारी मज़दूर साथियों को एक तरफ़ ले जाकर उनके कानों में फुसफुसाना, तालमेल कमेटी - जिसमें कि सभी हमदर्द संगठनों के व्यक्ति शामिल होते - नहीं बनने देना, मज़दूरों के साथ राजनीतिक धरातल की बजाय निम्नस्तरीय एकता क्रायम करना इत्यादि काम इन श्रीमानों ने यहाँ भी किये। ऑटोमोबाइल सेक्टर के आन्दोलनों को सेक्टरगत आधार पर संगठित किये जाने की ज़रूरत पर तो ये लोग चाहकर भी कुछ नहीं बोल पाते! इसका कारण यह है कि कुछ साल पहले बिगुल ने जब सेक्टरगत आधार पर यूनियन बनाने और ऑटोमोबाइल सेक्टर के संघर्षों को भी आपस में जोड़ने की बात की थी, तो ये लोग अपनी अर्थवादी व संघाधिपत्यवादी पहुँच और पद्धति के कारण इस लाइन के विरोध में खड़े थे। पर वास्तविक सच्चाई से कठदलीली करने वाले भी भला कब तक विमुख रह सकते हैं। अब ये श्रीमान भी यही लाइन “चोरी करके” चुपके-चुपके दबे स्वर में सेक्टरगत एकजुटता की बात करने लगे हैं पर इस बारे में अभी ये साफ़-नज़र नहीं हो पाये हैं कि खुले स्वर में किस मुँह से कहें? आइसिन के मज़दूर आन्दोलन में इन्होंने एक ग़ज़ब का सादृश्य निरूपण बैठा दिया और फिर स्वयं कुछ समय के लिए चम्पत हो लिये। हरिद्वार में एक्वेस्ट कम्पनी के मज़दूरों का आन्दोलन चल रहा था। वहाँ पर कम्पनी ने न्यायालय से ‘स्टे ऑर्डर’ लेकर मज़दूरों को कम्पनी से दूर बैठा दिया था। मज़दूरों ने एकजुट होकर परिवारवालों और स्थानीय आबादी को साथ लेकर बैरीकेड को तोड़ दिया और कम्पनी गेट पर क़ब्ज़ा कर लिया, इसके बाद दबाव के चलते मैनेजमेण्ट समझौते की टेबल पर आ गयी। हर जगह के संघर्ष

की अपनी विशिष्टताएँ होती हैं, इसलिए आइसिन कम्पनी से एक्वेस्ट कम्पनी के संघर्ष की तो कोई तुलना ही नहीं की जा सकती थी। बिगुल मज़दूर दस्ता ने इस स्थिति में स्पष्ट तौर पर बात रखी थी कि गेट जाम करना अपने आप में ग़लत नहीं है, किन्तु स्थानीय और ऑटोमोबाइल सेक्टर के मज़दूरों को साथ में जोड़कर बनी ताक़त पर निर्भर करता है कि उक्त क्रम कब उठाया जाये, फ़िलहाली स्थिति से ऐसा नहीं लगता कि अभी ऐसा क्रम उठाया जा सकता हो। किन्तु ‘कानूनी सलाहकार महोदय’ वीडियो दिखा-दिखाकर मज़दूरों को ऐसा करने के लिए उकसा रहे थे खैर जो भी रहा हो मज़दूर बहादुरी के साथ पुलिस दमन के सामने सीना तानकर खड़े हो गये, नेतृत्वकारी कमेटी यहाँ भी संघर्ष की अगली क्रतारों में थी। पर जो होना था वही हुआ, अन्त में सब सामने आ गया। लाठीचार्ज करने के बाद बसों में भरकर मज़दूरों को थाने ले जाया गया, गिरफ़्तार किये जाने वालों में कुछ परिवारजनों व मज़दूर कार्यकर्ताओं के साथ ‘बिगुल मज़दूर दस्ता’ और ‘ऑटोमोबाइल इण्डस्ट्री कॉन्फ़ेडरेशन यूनियन’ के कार्यकर्ता भी शामिल थे। जब थाने में गिरफ़्तारी दिखाकर जेल भेजने की तैयारी होने लगी तब भी कम्पनी की पहुँच और ताक़त को यूनियन के नेतृत्वकारी साथी बड़े ही हल्के में ले रहे थे तथा आश्वस्त थे कि थोड़ी-बहुत देर में सभी को छोड़ दिया जायेगा, इतने लोगों को कहाँ रखेंगे!? कहना नहीं होगा कि 31 तारीख को गेट जाम करने के क्रम से आन्दोलन में नया मोड़ आया। इसके बाद आन्दोलन के लिए सबसे नकारात्मक चीज़ थी कम्पनी गेट से दूर हट जाना। जिससे कि कम्पनी पर बन रहा दबाव हट गया और कम्पनी को साँस लेने का मौक़ा मिल गया। पहले जहाँ चोरी-छिपे कैजुअल भर्ती हो रही थी अब कम्पनी के दोनों गेट खुल गये। कम्पनी से गाड़ियों का आवागमन शुरू हो गया। जेल से छूटते ही बिगुल की तरफ़ से तालमेल कमेटी की ज़रूरत पर बात की गयी, किन्तु कानाफूसी की कुनीति के कारण यह बात भी सिरे नहीं चढ़ पायी।

संशोधनवादी पार्टियों से जुड़ी ट्रेड यूनियन : नाम बड़े और दर्शन छोटे!

रोहतक में मज़दूरों की नामधारी दो पार्टियों के बड़े-बड़े दफ़्तर हैं और इनका संस्थाबद्ध ढंग का काम है। इनमें से एक पार्टी खुद को भारत के मज़दूर वर्ग की एकमात्र क्रान्तिकारी पार्टी बताती है। इस पार्टी से जुड़ी सेण्ट्रल ट्रेड यूनियन के नेता तीन महीने के संघर्ष के दौरान केवल 3 बार दिखायी दिये और वह भी “अकेले” ही तथा उस समय भी सिर्फ़ भाषण देने के लिए। इनके स्थानीय नेता अपने दफ़्तर में बैठकर आइसिन के मज़दूरों

आइसिन मज़दूरों का संघर्ष और ऑटोमोबाइल मज़दूरों लिए कुछ ज़रूरी सबक़

(पेज 3 से आगे)

की तरफ़ से निमन्त्रण पत्र दिये जाने का इन्तज़ार करते रहे। इनसे जुड़े एक व्यक्ति ने तो ऐसा बोल ही दिया कि उन्हें किसी ने बुलाया ही नहीं तो वे क्यों आते! दूसरी पार्टी से जुड़ी ट्रेड यूनियन कुछ दिन पहले तक देश की सबसे बड़ी ट्रेड यूनियन होने का दम भरती थी। दुवन्नी-चवन्नी के लिए संघर्ष लड़ने और मज़दूर वर्ग को अर्थवाद के गोल-गोल घेरे में घुमाना ही इनका काम है। मज़दूरों का नाम लेकर कमीशनखोरी करने और 30 प्रतिशत की दलाली खाने के लिए देश के तमाम औद्योगिक इलाकों में मज़दूरों के बीच ये भी ख़ासे कुख्यात हैं। बिगुल से जुड़े एक मज़दूर कार्यकर्ता ने जब आइसिन के मज़दूरों की रैली-प्रदर्शन के समय अपनी अकादमिक परीक्षा छोड़ दी तो इनसे जुड़े छात्र संगठन के नेता का कहना था कि परीक्षा छोड़ने की क्या ज़रूरत थी, अभी तो खुद को “कुर्बान” करने की कोई आवश्यकता ही नहीं है यानी ये श्रीमान परीक्षा छोड़ने की तुलना कुर्बानी देने से कर रहे थे। सही भी है इनके लिए भविष्य (“करियर”) चमकाना ही मुख्य काम हो सकता है! गिरफ़्तारी के बाद तो इन्होंने ऐसे गुल खिलाये कि इनका नक़ली लाल रंग धुलकर असल चरित्र खुलकर सामने आ गया। पता नहीं क्यों इन लोगों के अन्दर यह ‘फ़डका’ बैठा हुआ था कि आन्दोलन बिगुल के इशारों पर चल रहा है! गिरफ़्तारी के बाद इनकी एक बड़ी नेत्री व्यंग्य में कहती हैं कि क्यों बज गया बिगुल?! जब 35 महिला मज़दूरों और अभिभावक महिलाओं के साथ इनकी एक महिला कार्यकर्ता गिरफ़्तार हुई तो उन्हें छुड़ाने के लिए परीक्षा का हवाला देते हुए तमाम बड़े नेता रोहतक ‘एसपी’ के सामने क़रीब-क़रीब गिड़गिड़ाने की हद तक चले गये थे। 425 लोग जब जेल के

अन्दर थे तो इन महानुभावों का कहना था कि जमानत लेने की ज़रूरत ही नहीं है। मतलब मज़दूर जेल के अन्दर सड़ते रहें और ये लोग प्रदर्शनों में अपने झण्डे-बैनर चमकाते रहें! अभिभावकों और अन्य संगठनों के दबाव के बाद जमानत की कार्रवाई आगे बढ़ायी जा सकी। किसी भी तरह बाहर आना इसलिए भी आवश्यक था, ताकि कम्पनी पर बना दबाव बरकरार रह सके और मामला कम्पनी बनाम मज़दूर ही बना रहे। फिर यदि समझौता होता तो मुक़दमे खारिज हो सकते थे। अकेला पड़ता दिखने पर ये भी बाद में सुर में सुर मिलाने लगे। मज़दूर वर्ग को राजनीतिक तौर पर शिक्षित करना, आज के समय ऑटोमोबाइल सेक्टर के मज़दूर आन्दोलन के समक्ष उपस्थित चुनौतियों इत्यादि पर बोलने के लिए इन लोगों के पास कुछ होता ही नहीं था। प्रदर्शनों के समय आन्दोलनरत मज़दूरों का मंच कैसे हथियाया जाता है; यह चीज़ कोई इनसे सीखे। मज़दूर बस देखते रह जाते हैं और इनके एक से बढ़कर एक सूत्रा आन्दोलन को भाषणों में ही फ़तह करके निकल जाते हैं! जब मज़दूरों ने इन्हें भाव देना कम कर दिया तो आम मज़दूरों में इन्होंने यूनियन के प्रति अविश्वास पैदा करने की कोशिश भी की जिसका कोई प्रभाव नहीं पड़ा। कहना न होगा कि आइसिन के मज़दूर आन्दोलन की दशा और दिशा को संशोधनवादी ट्रेड यूनियनों ने भी प्रभावित किया।

ऑटोमोबाइल सेक्टर के आन्दोलन और सेक्टरगत इलाक़ाई यूनियन का सवाल

आन्दोलन में शुरू से ही ‘बिगुल मज़दूर दस्ता’ व ‘ऑटोमोबाइल इण्डस्ट्री कॉण्ट्रेक्ट वर्कर्स यूनियन’ के साथी लगातार मौजूद थे। हर क़दम पर न

वालोंने हमारी बात नहीं सुनी। तो हमारी यूनियन के साथी अनिल, जसवीर, विकास, गोपाल, कैलाश, रणजीत और उमेश डी.सी. रोहतक व लेबर कोर्ट के पास गये और हमारी समस्याएँ बतायीं लेकिन उन्होंने मदद करने से साफ़-साफ़ मना कर दिया। वे सब कम्पनी की भाषा बोले, उन्होंने ये भी कहा कि अण्डरटेकिंग पर हस्ताक्षर ना करके मज़दूरों ने गलत किया है। हमारे साथियों ने कहा कि हम सभी काम करना चाहते हैं और सभी अन्दर जाने को तैयार हैं लेकिन हम सभी 20 साथियों सहित साथ जायेंगे और ‘गैरकानूनी अण्डरटेकिंग फॉर्म’ पर हस्ताक्षर नहीं करेंगे।

29 दिन के संघर्ष के बाद भी प्रशासन या कम्पनी किसी प्रकार के समझौते पर राजी नहीं हुए। हमारे साथी कई बार लेबर कोर्ट में गये और डी.सी. रोहतक से मिले लेकिन सबने साफ़-साफ़ मना कर दिया कि वे समझौता नहीं करा सकते। 31 मई को जो जुल्म हमारे साथियों के साथ हुआ वह जुल्म किसी के भी साथ ना हो! जब हमने देखा कि कोई समझौता नहीं हो रहा तो हमारे साथी मजबूर होकर गेट के सामने बैठ गए लेकिन कम्पनी वालों ने प्रशासन

केवल मज़दूरों के संघर्ष में भागीदारी की गयी बल्कि सकर्मक हस्तक्षेप भी किया गया। आइसिन के मज़दूरों का संघर्ष एक बार फिर से ऑटोमोबाइल सेक्टर के मज़दूरों की सेक्टरगत और इलाक़ाई यूनियन की ज़रूरत को रेखांकित करता है। ऑटोमोबाइल सेक्टर से जुड़े आम मज़दूर तक इस बात को अपने तर्क-विवेक और आम वर्गबोध से समझते हैं। भले ही उन्हें सेक्टरगत यूनियन संगठित करने का कोई ठोस रास्ता समझ नहीं आ रहा हो, किन्तु बहुत सारे आइसिन के मज़दूर साथियों से हमने जब बात की तो उन्होंने भी सेक्टरगत यूनियन की बात को अनुमोदित किया। यदि ऑटोमोबाइल उद्योग के व्यापक परिप्रेक्ष्य में आइसिन मज़दूरों के संघर्ष को देखा जाये तो यह बात आसानी से समझ में आ सकती है कि मज़दूरों की व्यापक सेक्टरगत एकता के बग़ैर एक कम्पनी/फ़ैक्टरी के स्तर पर मज़दूरों के द्वारा अपने संघर्ष में जीत हासिल करना या हासिल की गयी जीत को बचाये रखना ख़ासा मुश्किल काम है। ज्ञात हो ऑटोमोबाइल सेक्टर की कुछ कम्पनियों में हाल-फ़िलहाल मज़दूरों की बनी-बनायी यानी पंजीकृत (‘रजिस्टर्ड’) यूनियनों को मैनेजमेण्ट ने बड़ी ही आसानी से तुड़वा दिया। फ़ैक्टरी के स्तर पर व्यापक एकजुटता के बावजूद भी मालिक पक्ष को आसानी से अपनी जायज़ और क़ानूनसम्मत माँगों के लिए नहीं झुकाया जा सकता। इसका एक प्रमुख कारण तो यही है कि पूँजीपति वर्ग ने आज उत्पादन को एक फ़ैक्टरी स्तर की बजाय इलाक़ाई स्तर पर बिखरा दिया है। एक ही प्रकार का माल एक से ज़्यादा और कई बार तो दर्जनों वेण्डर कम्पनियाँ उपलब्ध करा देती हैं या फिर एक ही मालिक की कई-कई वेण्डर कम्पनियाँ अलग-अलग जगह पर चलती हैं। जैसे कि आइसिन

कम्पनी ही वैश्विक स्तर पर काम करती है तथा पूरी दुनिया में 190 से भी ज़्यादा कम्पनियाँ चलाती है। इसी कारण से मज़दूर अपने संघर्ष के दौरान मालिक के मुनाफ़े के चक्के को जाम नहीं कर पाते। दूसरा मालिक वर्ग तो आपस में अपने “बुरे वक्त” में एक-दूसरे का साथ दे देते हैं। मिसाल के तौर पर आइसिन के मालिक और कम्पनी की मैनेजमेण्ट का साथ मारुति और मिण्डा कम्पनी की मैनेजमेण्ट समेत अन्वियों ने दिया, लेकिन मज़दूर वर्ग एक-दूसरे के संघर्ष में मुस्तैदी के साथ मदद नहीं कर पा रहे हैं या कहिए आम मज़दूरों की वर्ग चेतना का इस स्तर तक विकास नहीं हो पाया है और कई कम्पनियों में मज़दूर यूनियनों और संघों में नेतृत्वकारी पदों पर अवसरवादी तत्वों का बोलबाला है, जो असल में अपनी कम्पनी तक के मज़दूरों की पूरी संख्या का प्रतिनिधित्व नहीं करते, क्योंकि पूरे ऑटोमोबाइल सेक्टर में स्थायी मज़दूरों की कुल संख्या मात्र 20 प्रतिशत है और यूनियनों में सदस्यता ग्रहण करने का अधिकार केवल स्थायी मज़दूरों को ही होता है। हीरो, मारुति, होण्डा, अस्ति, श्रीराम पिस्टन, ओमेक्स, एहस्टी, मार्क एक्झोस्त इत्यादि कम्पनियों के संघर्षों के माँगपत्रों की विभिन्न माँगें साझा होने के बावजूद इनका संघर्ष साझा नहीं हो सका। यह बात आज ऑटोमोबाइल सेक्टर में काम करने वाला हरेक कामगार समझता है कि अत्यधिक वर्कलोड, स्थाई, ट्रेनी, कैजुअल, ठेका के नाम पर मज़दूरों का बँटवारा और शोषण, श्रम क़ानूनों का खुला उल्लंघन, मज़दूरों को निचोड़ डालने की मालिक की चाहत पूरे ऑटोमोबाइल सेक्टर की तमाम कम्पनियों की आम परिघटना बन चुकी है। उदारीकरण-निजीकरण के मौजूदा दौर में श्रम विभाग, स्थानीय प्रशासन से लेकर सरकार तक मालिक

और पूँजीपति वर्ग के सामने दण्डवत खड़े हैं। इन्हीं सब कारणों से व्यापक सेक्टरगत एकता के बिना आज काम नहीं चल सकता। पहले जहाँ एक ही छत के नीचे पूरा उत्पाद बनता था तथा ‘असेम्बलिंग’ भी वहीं होती थी, वहीं आज पूरा उत्पाद एक जगह बनने की बजाय टुकड़ों-टुकड़ों में बनता है तथा ‘असेम्बलिंग’ भी कहीं और होती है। इसीलिए आज सेक्टरगत यूनियन हमारे संघर्ष को ज़्यादा कारगर ढंग से लड़ पायेंगी तथा इसका मतलब यह भी क़त्तई नहीं है कि हम फ़ैक्टरी के आधार पर यूनियन नहीं बनायें, बल्कि ज़रूर बनायें बल्कि दोनों ही प्रक्रियाओं पर ही साथ-साथ ध्यान दें, क्योंकि आगे चलकर सेक्टरगत यूनियन हमारे स्थानीय संघर्षों में मददगार ही साबित होंगी। ऑटोमोबाइल सेक्टर के सन्दर्भ में भी हम यह बात बार-बार कहते रहे हैं कि फ़ैक्टरीगत यूनियनों के साथ-साथ गुडगाँव, मानेसर, धारुहेड़ा, बावल, खुशखेड़ा, भिवाड़ी, टपुकड़ा, अलवर से लेकर बहादुरगढ़, रोहतक आदि तक की ऑटोमोबाइल की पूरी पट्टी की एक सेक्टरगत यूनियन खड़ा करना आज वक्त की ज़रूरत है। आइसिन के मज़दूरों का संघर्ष अब भले ही आन्दोलन की शकल में चलने की बजाय कोर्ट-कचहरी के माध्यम से चलेगा, किन्तु आइसिन के मज़दूरों ने क़रीब 90 दिनों के अपने संघर्ष में जाति-धर्म की बेड़ियों को तोड़कर मज़दूर वर्ग की वर्गीय एकजुटता का शानदार परिचय दिया है। साथ ही स्थाई, ट्रेनी और कैजुअल के बँटवारे को ठोकर मारकर तीन महीने तक साझा संघर्ष चलाकर अन्य मज़दूर भाइयों के सामने शानदार मिसाल भी क़ायम की है।

- बिगुल संवाददाता
रोहतक, हरियाणा

सभी साथी एकजुट होकर संघर्ष करें, संघर्ष कभी व्यर्थ नहीं जाता!

साथियों, मैं आइसिन ऑटोमोटिव हरियाणा प्राइवेट लिमिटेड रोहतक का एक मज़दूर हूँ। इस कम्पनी में लगभग 700 मज़दूर साथी कार्य करते हैं। हमारे सारे मज़दूर साथियों के साथ इस जापानी कम्पनी की मैनेजमेंट ने जो जुल्म किये उसके बारे में मैं आज सारे साथियों और मज़दूर भाइयों से कुछ बात बोलना चाहता हूँ।

पिछली 3 मई को कम्पनी वालों ने हमारे 20 साथियों को बिना गलती के बाहर निकल दिया। कम्पनी वालों ने बोला कि इन 20 मज़दूरों को छोड़ कर बाकी सभी ‘अण्डरटेकिंग’ पर हस्ताक्षर करके अन्दर जा सकते हो। उस फॉर्म में लिखा था कि मज़दूर कम्पनी में कुछ भी माँग नहीं रखेंगे, उसके बाद ही अंदर जाने की अनुमति मिलेगी। हमें बहुत दुःख हुआ कि जिस कम्पनी को हम सब इतनी मेहनत करके इतना ऊपर तक लाये आज वही कम्पनी कह रही है कि हम कोई माँग नहीं कर सकते। हमने कहा कि पहले इन 20 बन्दों को काम पर वापस लो फिर उनकी जाँच की जाये, अगर उनकी कोई गलती मिलती है तो आप निकाल सकते हैं लेकिन कम्पनी

को बुला लिया और पूरी फ़ोर्स लगा दी। मज़दूर साथी 29 दिन तक बैठे रहे लेकिन कोई पूछने तक नहीं आया और उस दिन कम्पनी के बुलाने पर प्रशासन ने गाड़ियाँ भर-भर के पुलिस वाले भेज दिये और लाठी चार्ज करवा दिया। ये देख कर हमारा तो प्रशासन से भरोसा ही उठ गया। 31 मई को प्रशासन ने पूरी ताकत के साथ हमारे मज़दूर साथियों पर लाठी चार्ज करवाया। हमारे 425 साथियों को जेल में भी डाल दिया जिनमें मज़दूर महिला साथी भी थी और विभिन्न संगठनों के कुछ कार्यकर्ता भी। निर्दोषों को जेल में ले जाते प्रशासन को जरा भी शर्म नहीं आई। ये प्रशासन पूँजीपतियों की बात करता है और पूँजीपतियों का ही साथ देता है। हमारे प्रधान जसवीर हुड्डा को सलाम जिनकी पत्नी और बहन तक हमारे साथ जेल में थे। और भी कई साथियों के घर वालों ने हमारा सहयोग दिया। कम्पनी वालों ने सोचा था इससे हमारी एकता टूट जायेगी पर ऐसा हुआ नहीं हमारी एकता घटने की बजाय और भी बढ़ गयी।

कम्पनी में हमारे मज़दूर साथियों का बहुत शोषण होता रहा है। ऐसे ही हालात में लोग आत्महत्याओं के लिए

मजबूर होते हैं। हमने निर्णय लिया था कि हम यूनियन के रजिस्ट्रेशन के लिए फ़ाइल लगायेंगे। जब लेबर कोर्ट से फ़ाइल ‘ओके’ होकर कम्पनी आयी तो उस समय हमारे 270 के क़रीब मज़दूर साथी स्थायी थे। कम्पनी ने चाल चलनी शुरू कर दी। जब वेरिफिकेशन हुआ तब हमारी फ़ाइल पूरी तरह से ठीक थी लेकिन कम्पनी वालों ने हमारी यूनियन फ़ाइल खारिज कराने में पूरी ताकत लगा दी। उन्होंने लेबर कोर्ट में इतना पैसा खिला दिया कि लेबर कोर्ट ने कम्पनी मैनेजमेंट की बात बोली। अब किस पर भरोसा करोगे? लेबर कोर्ट कहने के लिए मज़दूरों के लिए होता है लेकिन उन्होंने 700 मज़दूरों की रोजी रोटी छीनने में कोई कसर नहीं छोड़ी। कम्पनी वालों ने 525 मज़दूरों को परमानेंट दिखा दिया और फ़ाइल रिजेक्ट करा दी। कम्पनी मैनेजमेंट और श्रम विभाग ने हमारे यूनियन नम्बर को रोक दिया गया और षड्यन्त्र करके हमारी पंजीकरण फ़ाइल रद्द करा दी।

कम्पनी को काम करते 5 साल हो गये लेकिन किसी भी मज़दूर की सैलरी 8,600 रुपये से बढ़कर 12,000 रुपये नहीं हुई है, इक्के दुक्के किसी की तनख्वाह

बढ़ी भी है तो थोड़ी बहुत जबकि हमारे साथ ही ज्वाइन किये मैनेजमेंट स्टाफ़ की सैलरी 15,000 से बढ़कर 1,50,000 तक हो गयी है। जब सैलरी बढ़ाने की बात आती है तो कम्पनी वाले कहते हैं कि कम्पनी घाटे में चल रही है। जबकि जापानी कम्पनी नये मॉडल हेतु उत्पादन करने के लिए लाइन लगा कर भर्ती कर रही है। इससे पता चलता है कम्पनी वाले और सारे प्रशासन वाले मिले हुए हैं। मोदी जी विदेशी कम्पनी लाकर बोलते हैं कि मैं भारत की गरीबी हटाऊँगा लेकिन कम्पनियों के व्यवहार से लगता है जैसे यहाँ पर उन्हीं की तानाशाही चलती है बाकी सभी उनके सामने पूँछ हिलाते हैं।

मज़दूर भाइयो! अगर हम एकजुट नहीं हुए तो ये कम्पनियाँ प्रशासन के साथ मिलीभगत करके यूँ ही हमारा शोषण करती रहेंगी। सभी साथियों से मेरी प्रार्थना है कि एकजुट हो जाओ। अगर हम ऐसा नहीं करेंगे तो मज़दूर का और अधिक शोषण होगा। सभी साथियों से प्रार्थना है कि सभी साथी एकजुट होकर संघर्ष करें, संघर्ष कभी व्यर्थ नहीं जाता।

- आइसिन कम्पनी में कार्यरत
आपका एक मज़दूर साथी, 20.7.17

दिल्ली स्टेट आँगनवाड़ी वर्कर्स एण्ड हेल्पर्स यूनियन के नेतृत्व में दिल्ली की आँगनवाड़ी महिलाओं की शानदार जीत!

58 दिनों तक चली हड़ताल के बाद केजरीवाल सरकार को झुकाया, सरकारी राजपत्र निकाल कर सरकार ने मानदेय दो गुना किया! महिलाओं ने किया जात-पात तोड़क विजय भोज का आयोजन!

आखिरकार दिल्ली की आँगनवाड़ी की महिलाओं ने अपनी यूनियन दिल्ली स्टेट आँगनवाड़ी वर्कर्स एण्ड हेल्पर्स यूनियन की अगुवाई में अरविन्द केजरीवाल और उसकी नौटंकी मण्डली को झुका ही दिया। 58 दिनों तक चली हड़ताल के बाद, 23 अगस्त को सरकार ने राजपत्र निकालकर मानदेय को दो गुना कर दिया। आँगनवाड़ी हेल्पर का मानदेय 2500 से बढ़कर 5089 हो गया है और आँगनवाड़ी वर्कर का मानदेय 5000 से बढ़कर 10028 हो गया है। दिल्ली की आँगनवाड़ी के इतिहास में मानदेय में इतनी बड़ी वृद्धि अभूतपूर्व है और इतनी बड़ी हड़ताल उससे भी अधिक अभूतपूर्व है। हालाँकि लड़ाई का यह सिर्फ पहला चरण था और आगे अभी लड़ाई जारी रहेगी, क्योंकि न्यूनतम वेतन और सरकारी कर्मचारी का दर्जा मिलने का हक पाना अभी बाकी है। और इसके लिए इस नौटंकीबाज केजरीवाल के साथ-साथ झूठे और जुमलेबाज मोदी सरकार से भी लोहा लेना होगा। इस जीत के जश्न में 3 सितम्बर को दिल्ली स्थित अम्बेडकर भवन में जात-पात तोड़क भोज किया गया, जिसका तात्पर्य यह है कि आँगनवाड़ी महिलाओं ने हड़ताल से सिर्फ अपने वेतन और भत्तों की वृद्धि को ही नहीं जीता है, बल्कि वे राजनीतिक तौर पर भी एक हद तक चेतस हुई हैं और जाति-प्रथा और महिलाओं की गुलामी जैसे मुद्दों पर भी सक्रिय हो रही हैं, जोकि आज के इस अन्धकारमय समय में बेहद खुशी और उत्साहवर्धक बात कही जा सकती है।

काम न आयी केजरीवाल सरकार की कोई भी चाल!

जैसाकि पिछले दो अंकों में हम पहले ही बता चुके हैं कि इस हड़ताल को तोड़ने और नाकाम करने के लिए अरविन्द केजरीवाल और आम आदमी पार्टी ने कोई कोर-कसर नहीं छोड़ी। वह हर एक चाल के बाद दूसरी चाल चलती रही, लेकिन आँगनवाड़ी की महिलाओं ने अपनी यूनियन दिल्ली स्टेट आँगनवाड़ी वर्कर्स एण्ड हेल्पर्स यूनियन के कुशल नेतृत्व में बेहतरीन जवाब दिया और सरकार की हर चाल को नाकाम किया। सरकार ने सबसे पहले यह कोशिश की कि महिलाओं को यूनियन से अलग-थलग कर दिया जाये, ताकि वे अपने नेतृत्व से कटकर बिखर जायें और हड़ताल टूट जाये। इसी सिलसिले में अरविन्द केजरीवाल का अलोकतान्त्रिक और तानाशाहीपूर्ण स्वरूप देखने को मिला। सरकार यूनियन से बात करने से मना कर रही थी, जोकि न सिर्फ़ गैर-क्रान्ती और असंवैधानिक है, बल्कि अभूतपूर्व भी है। ऐसा रवैया तो कांग्रेस और भाजपा की मजदूर विरोधी सरकारों ने भी नहीं अपनाया

था। केजरीवाल सरकार की यह चाल उसे उलटी पड़ी। शायद उसका अनुमान यह था कि इससे महिलाएँ टूट जायेंगी और अपनी यूनियन को दरकिनार कर देंगी, लेकिन हुआ इसका ठीक उल्टा। इन चालबाजियों के कारण सरकार के खिलाफ़ गुस्सा और तेज़ हो गया और महिलाओं का यूनियन के नेतृत्व पर भरोसा पहले से और ज़्यादा बढ़ गया। इस बात का प्रमाण हड़ताल स्थल पर



उनकी उपस्थिति में जबरदस्त वृद्धि होना था। ज्यों-ज्यों महिलाओं को केजरीवाल सरकार की ये चालें मालूम पड़ीं तो जहाँ पहले 1500-2000 महिलाएँ आम दिनों में उपस्थित होती थीं, वहीं बाद में यह संख्या 4000-5000 तक पहुँच गयी।

अपनी इस चाल को नाकामयाब होता देख केजरीवाल ने हड़ताल तोड़ने की ठेकेदारी प्रोफ़ेशनल हड़ताल-तोड़क यूनियनों को दे दी। इस काम में सबसे शातिर-माहिर नाम सीटू का है जिनका इतिहास ही देश-भर के मजदूरों से ग़द्दारी के कारनामों से भरा पड़ा है। गुडगाँव, मानेसर से लेकर बंगाल और केरल में मजदूरों से ग़द्दारी करने में इन्होंने बड़ी-बड़ी डिग्रियाँ हासिल की हैं तो भला अब ये दिल्ली में आँगनवाड़ी की महिलाओं को दगा देने में पीछे क्यों हटते! सीटू की कमला वाली यूनियन, जिसने 2015 में भी हड़ताल तोड़ने की भरसक कोशिश की थी लेकिन उस समय महिलाओं ने उसे हड़ताल स्थल से ही भगा दिया था, इस बार भी फिर से हमारी यूनियन को समर्थन देने के बहाने आन्दोलन में घुसने की कोशिश कर रही थी। लेकिन उसकी इस पुरानी चाल को यूनियन ने कामयाब नहीं होने दिया। ऐसी दलाल यूनियनों की यह पुरानी चाल रही है कि समर्थन देने के बहाने हड़ताल में शामिल हो और अन्दर ही अन्दर तोड़-फोड़ की कार्यवाहियाँ कर और अफ़वाहें फैलाकर हड़ताल को तबाह कर दो।

लेकिन जब यह चाल कामयाब नहीं हुई तो कमला की यूनियन सीधे अपनी

असली रूप में आ गयी और उसने हड़ताल से अलग नया परचा निकाल कर मनीष सिसोदिया का घेराव करने का आह्वान किया और हमारी यूनियन और नेतृत्व की साथी शिवानी के खिलाफ़ घटिया क्रिस्म का कुत्साप्रचार शुरू कर दिया। लेकिन कमला की यह चाल भी काम नहीं आयी। जिस दिन उसने मनीष सिसोदिया के आवास के घेराव का आह्वान किया उसके साथ सिर्फ़ उसकी

यह माँग क्यों उठायेली। केजरीवाल को उसकी यह चाल भी बेहद उलटी पड़ी, और इससे महिलाओं का गुस्सा सातवें आसमान पर पहुँच गया और महिलाओं ने प्रण लिया कि केजरीवाल से इसका बदला लेकर रहेंगी। अपनी इस चाल को भी नाकामयाब होते देख केजरीवाल ने फिर नया पासा फेंका। इस बार यह जिम्मेदारी उसने अपने विधायकों, सुपरवाइज़रों और सीडीपीओ को दी।

शिक्षण-प्रशिक्षण का केन्द्र भी था।

लेनिन के बताया है कि हड़तालें मजदूरों की प्राथमिक पाठशाला होती हैं जहाँ सिर्फ़ आर्थिक लड़ाई नहीं लड़ी जाती, बल्कि वे मजदूरों के राजनीतिक शिक्षण-प्रशिक्षण का केन्द्र भी होती हैं। आँगनवाड़ी की इस हड़ताल में भी बिल्कुल ऐसा ही हुआ। आमतौर पर संशोधनवादी यूनियन मजदूरों को सिर्फ़ वेतन-भत्ते तक उलझाकर ही रखती हैं, उनका राजनीतिकरण बिल्कुल नहीं करती, लेकिन एक क्रान्तिकारी यूनियन आर्थिक संघर्ष के क्षेत्र को भी राजनीतिक शिक्षण-प्रशिक्षण का केन्द्र बना देती है।

आँगनवाड़ी की हड़ताल ने महिलाओं को यह सिखाया कि हम भी हैं इंसान, हम भी अपने हक़ों के लिए संघर्ष करेंगी, एकजुट होंगी और घर की चारदीवारी से बाहर निकलकर सड़कों पर उतरेंगी और सरकार को झुकाकर ही दम लेंगी। उन्होंने अपनी एकता की ताकत को समझना सीखा, यूनियन की ज़रूरत को समझा और सरकार के साथ-साथ पितृसत्ता को भी चुनौती दी। ये वही महिलाएँ थीं, जो चुपचाप मुँह बन्द कर सुपरवाइज़र और सीडीपीओ की गुलामी झेलती थीं और घर आकर पति और पितृसत्ता के संस्थान यानी परिवार की गुलामी भी झेलती थीं। लेकिन अब ये महिलाएँ ही अपनी यूनियन के नेतृत्व में सड़कों पर उतरकर सरकार से लोहा ले रही थीं, खुद यूनियन को चलाने का काम कर रही थीं, यूनियन जनवाद की समझ को लागू कर रही थीं, पिकेटिंग टीमें और हड़ताली दस्ते बनाकर आँगनवाड़ी-केन्द्रों को बन्द करवा रही थीं, नये-नये गीत-संगीत रच रही थीं और इसके अलावा आम आदमी पार्टी का बहिष्कार भी कर रही थीं। वे संशोधनवादी और ग़द्दार यूनियनों की पहचान करना सीख रही थीं, जाति और धर्म के नाम पर लोगों का हक़ छीनने वाली फ़ासीवादी सरकार की चालों को भी समझ रही थीं, अपने बीच जातिगत और धार्मिक पूर्वाग्रहों से भी शुरुआती संघर्ष कर रही थीं और कुल मिलाकर कहा जाये तो अपने को एक वर्ग के रूप में पहचान रही थीं।

उनका काम था कि अपने-अपने इलाक़ों से कुछ आँगनवाड़ी की महिलाओं को पकड़ कर लाना और केजरीवाल से मीटिंग करवाना और मीडिया में समझौता हो जाने और हड़ताल खत्म होने की अफ़वाह उड़ाना। हम सभी जानते हैं कि सफल से सफल हड़ताल में भी इक्का-दुक्का ग़द्दार होते ही हैं जो सरकार या प्रशासन का साथ देते हैं। लेकिन बहुत कोशिश कर पाने के बाद भी पाँच-छह महिलाएँ ही इन मीटिंगों में आती थीं, जबकि बाहर हड़ताल पर छ-सात हजार महिलाएँ बैठी रहती थीं। मतलब यह चाल भी नाकाम रही।

अब थक-हारकर केजरीवाल ने ट्विटर पर मानदेय बढ़ाने की घोषणा कर दी, लेकिन कोई सरकारी नोटिस या राजपत्र नहीं निकाला। यह हमारी जीत की शुरुआत थी, लेकिन हड़ताल अभी भी खत्म नहीं हुई थी, क्योंकि हमें केजरीवाल सरकार पर कोई भरोसा नहीं रह गया था और उसका इतिहास बतलाता है कि वह कभी भी पलट सकता था। इसलिए यूनियन का कहना था कि जब तक सरकार राजपत्र निकाल कर हमारी माँगों को पूरा नहीं कर देती या फिर यूनियन से बात कर समझौता नहीं कर लेती, तब तक हमारी हड़ताल जारी रहेगी। आखिरकार हारकर सरकार को हमारी माँगें माननी ही पड़ी और पिछले महीने की 23 तारीख को उसे राजपत्र निकालकर मानदेय बढ़ाने की घोषणा करनी पड़ी।

यह हड़ताल महज़ वेतन-भत्ते के लिए संघर्ष नहीं था, बल्कि राजनीतिक

हड़ताल की पूरी समयावधि के दौरान यूनियन अपने फ़ैसले किसी नौकरशाहाना तरीक़े से नहीं करती थी बल्कि अपने बीच से चुनी हुई कमेटी के जरिये ही फ़ैसले लेने और उस पर अमल करने का काम करती थी। कमेटी जो भी फ़ैसले लेती थी, उसको आमसभा में पारित कराया जाता था। महिलाओं के लिए यह अनुभव एक सुखद आश्चर्य जैसा था, क्योंकि संशोधनवादी यूनियनों में नौकरशाही चलती है और वहाँ जनवाद के लिए कोई जगह नहीं होती (पेज 6 पर जारी)

दिल्ली स्टेट आँगनवाड़ी वर्कर्स एण्ड हेल्पर्स यूनियन के नेतृत्व में दिल्ली की आँगनवाड़ी महिलाओं की शानदार जीत!

(पेज 5 से आगे)

यूनियन-कार्य के इन जनवादी तरीकों से महिलाओं का खुद पर और यूनियन पर विश्वास टोस होता गया और उनकी पहलकदमी खुलने लगी। यूनियन की आय का स्रोत महिलाओं द्वारा दिया जाने वाला सहयोग था। सहयोग पेटी के जरिये महिलाएँ यूनियन के खर्चों के लिए बढ़-चढ़कर सहयोग करती थीं। पिछले कई महीने से मानदेय नहीं मिलने और घर की स्थिति जर्जर होने के बावजूद वे यह सहयोग कर रही थीं, इसी बात से उनकी राजनीतिक चेतना में हुई वृद्धि का अन्दाज़ा लगाया जा सकता है।

डर रही थी, उनमें साहस और हिम्मत आयी और वे भी हड़ताल में शामिल हो गयीं। इससे बौखलाकर सुपरवाइज़र, सीडीपीओ और आम आदमी पार्टी के गुण्डों ने महिलाओं पर हमला करना शुरू कर दिया। यह उनकी हताशा को ही जाहिर कर रहा था। इन हमलों का जवाब महिलाओं ने भी बखूबी दिया। महिलाओं ने यह साबित कर दिया कि वे न सिर्फ़ सड़कों पर उतरकर अपने हक के लिए संघर्ष कर सकती हैं बल्कि ज़रूरत पड़ने पर वे आत्म-सुरक्षा में जवाबी कार्रवाई भी कर सकती हैं। यह उनकी पहलकदमी खुलने का ही एक उदाहरण

अच्छे भाषण देना सीख गयीं। इसके अलावा यूनियन की सभी तकनीकी कामों को भी वे खुद ही करने लगीं।

जीत के बाद जीत का जश्न!

23 अगस्त को राजपत्र जारी होने के बाद अगले दिन (24 अगस्त) महिलाएँ एक बार फिर मुख्यमन्त्री आवास पर इकट्ठा हुईं और उन्होंने एक-दूसरे को जीत की बधाई दी और खुलकर जश्न मनाया। फिर ढोल-नगाड़े के साथ पूरे सिविल लाइन्स विधानसभा इलाके में एक विशाल रैली का आयोजन किया गया। करीब 10 हजार महिलाओं ने

मोदी सरकार ने अपने तीन साल के कार्यकाल में मज़दूर विरोधी नीतियाँ ही बनायी हैं और आँगनवाड़ी का बजट भी पहले से आधा कर दिया है। ऐसे में संघर्ष कर इनको झुकाने के सिवा और कोई रास्ता नज़र नहीं आता, लेकिन इसके लिए अपनी ताकत को फिर प्राप्त करने के लिए थोड़ा विश्राम करना सही रहेगा।

यूनियन ने जनवाद के सिद्धान्त को लागू करते हुए इसी दिन चुनाव भी कराया और एक पच्चीस सदस्य कार्यकारिणी का चयन किया गया। यूनियन की साथी शिवानी को सर्वसम्मति से अध्यक्ष चुना गया।

यूनियन के लिए एक बड़ी जीत है।

हड़ताल के बाद अब हर पखवाड़े पर यूनियन पाठशाला का आयोजन करने का तय किया गया है, ताकि क्रान्ति के विज्ञान को समझा जा सके, देश-दुनिया में हुए महिलाओं के संघर्षों से अवगत हुआ जा सके, मज़दूर क्रान्तियों के इतिहास से परिचित हुआ जा सके तथा रूस और चीन के मज़दूरों से सीखते हुए हम आने वाले समय में एक अन्याय-मुक्त, शोषण-मुक्त समाज के निर्माण में अपना योगदान दे सकें।

महिलाओं ने आम सभा में यह भी तय किया कि देश-विदेश में होने वाले



यूनियन के जनवादी होने की एक शर्त यह भी है कि उसका आय-व्यय का ब्यौरा कितना पारदर्शी है। संशोधनवादी यूनियन रसीद कटवाती हैं लेकिन कभी भी खर्च का कोई ब्यौरा नहीं देती हैं, जोकि उनके भ्रष्ट हो जाने का एक बड़ा कारण भी है। यूनियन का आय-व्यय बिल्कुल पारदर्शी था। हर तीन-चार दिन पर कुल आय-व्यय का ब्यौरा पेश किया जाता था। इससे यूनियन पर महिलाओं का विश्वास और गहरा होता चला गया। हड़ताल के दौरान ही एक महिला की मृत्यु हो गयी तो यूनियन ने उनकी मदद के लिए एक विशेष सहयोग की अपील की और महिलाओं ने बढ़-चढ़कर सहयोग किया।

सरकार ने हड़ताल को कमजोर करने के लिए सुपरवाइज़र और सीडीपीओ पर दबाव डालकर महिलाओं को डरा-धमकाकर आँगनवाड़ी खुलवाने की कोशिशें कीं। कुछेक महिलाओं ने इनके डर से आँगनवाड़ी खोली भी। इससे निपटने के लिए यूनियन ने भी अपनी कार्रवाई की। महिलाओं की पिकेटिंग टीम बनायी गयी और जगह-जगह सेण्टरों पर जाकर डरी हुई अपनी बहनों को हौसला दिया गया और समझाया गया कि सुपरवाइज़र और सीडीपीओ की गीदड़ भभकियों से डरने की कोई ज़रूरत नहीं है, वे आपका कुछ नहीं बिगाड़ सकतीं, आपके साथ आपकी यूनियन है। इस पिकेटिंग का ज़बरदस्त असर हुआ और जो भी महिलाएँ

था। केजरीवाल सरकार की धोखाधड़ी का पर्दाफ़ाश करने के लिए बवाना में हुए उप-चुनाव में 'आम आदमी पार्टी' का बहिष्कार किया गया। हालाँकि जनता के समक्ष विकल्पहीनता की वजह से 'आम आदमी पार्टी' का उम्मीदवार चुनाव जीत गया, लेकिन मुख्यतः हमारे बहिष्कार की वजह से बवाना में पिछले चुनाव के मुकाबले इस बार बेहद कम मतदान प्रतिशत था। साफ़ है कि लोग साँपनाथ और नागनाथ में से एक को चुनने को विवश हैं। दरअसल यह पूँजीवादी चुनाव व्यवस्था जनता को कोई सार्थक विकल्प दे ही नहीं सकती और अभी किसी क्रान्तिकारी विकल्प की ग़ैर-मौजूदगी की वजह से इस या उस चुनावबाज़ पार्टी का जीतना तय है, वह आम आदमी पार्टी हो या कांग्रेस या भाजपा या फिर कोई और।

आमतौर पर इस समाज में यह कहा जाता है कि इन गरीब महिलाओं का काम सिर्फ़ सेवा करना है, ये कोई दूसरा महत्त्वपूर्ण रचनात्मक कार्य नहीं कर सकती, जबकि इन्हें कभी भी ऐसे कार्य करने का मौक़ा दिया ही नहीं जाता। आँगनवाड़ी की हड़ताल ने इस बात को भी ग़लत साबित कर दिया। महिलाओं ने खुद अपने गीत-संगीत, कविताएँ, नज़्में रचीं। संघर्ष के नये-नये गीत बहुत ही दिलचस्प तरीक़े से रचे गये और पेश किये गये। जो महिलाएँ सुपरवाइज़रों के सामने कुछ बोल भी नहीं पाती थीं, वे

इस विजय रैली में हिस्सेदारी की। इसके बाद यूनियन ने यह तय किया कि इस जीत के जश्न को और अच्छे से मनाना होगा और इसके लिए विजय भोज का आयोजन किया गया। 3 सितम्बर को दिल्ली के अम्बेडकर भवन में जात-पात तोड़कर भोज तथा यूनियन पदाधिकारियों के चुनाव का आयोजन किया गया। इस भोज का मक़सद न सिर्फ़ अपनी जीत का जश्न मनाना था, बल्कि एकताबद्ध होकर जाति और धर्म आधारित भेदभाव को खत्म करने के लिए संघर्ष की शुरुआत करना भी था। अपने संघर्ष के दौरान महिलाओं ने यह भी देखा कि जाति और धर्म शोषक वर्गों के हाथ में मेहनतकशों को आपस में बाँटने का एक हथियार रहा है और इसका जवाब वर्ग लामबन्दी ही हो सकता है। उसी दिन यह फैसला भी लिया गया कि यह हमारे संघर्ष का समापन नहीं है, बल्कि एक अर्द्धविराम है ताकि हम आने वाली संघर्षों की तैयारी कर सकें। अभी तो बस हमने अपना मानदेय ही बढ़वाया है, लेकिन अभी भी हमारा मुख्य लक्ष्य न्यूनतम वेतन प्राप्त करना और सरकारी कर्मचारी का दर्जा पाना है। और इसके लिए सिर्फ़ केजरीवाल सरकार को ही नहीं बल्कि केन्द्र की मोदी सरकार को भी घेरना होगा, क्योंकि समेकित बाल विकास योजना मुख्य तौर पर केन्द्र सरकार की है और वह अपनी ज़िम्मेदारी से पीछे नहीं हट सकती है और कर्मचारी का दर्जा देने का अधिकार भी केन्द्र सरकार के पास ही है। वैसे मज़दूर-विरोधी, फासीवादी

हमारी हड़ताल की जीत को सुनकर कुछ सुपरवाइज़रों ने भी यूनियन से सम्पर्क किया है, क्योंकि बहुत सारे सुपरवाइज़र भी ठेके पर काम करते हैं और उनका अनुबन्ध सरकार खत्म करने जा रही है। हड़ताल के दौरान ही हमने ऐसे सभी सुपरवाइज़रों से अपील की थी कि आप भी संघर्ष में शामिल हो जाओ वरना कल सड़क पर आप भी आ सकते हो, लेकिन उस समय उन्होंने हमारी अपील नहीं सुनी और अब, जब यूनियन ने जीत हासिल कर ली है, वे भी हमारे साथ आने को तैयार हैं। यह हमारी

मज़दूरों, उत्पीड़ितों के संघर्षों को समर्थन दिया जायेगा और यथासम्भव उसमें भागीदारी की जायेगी।

आँगनवाड़ी की महिलाओं का संघर्ष इस अँधेरे समय में ज़बरदस्त हौसला देने का काम करेगा। आज जहाँ चारों ओर श्रम की ताकत पर पूँजी की ताकत हावी है और फासीवादी राक्षस हैवानियत फैला रहे हैं, ऐसे में आँगनवाड़ी स्त्री कामगारों की यह जीत इस अँधेरे को चीरने के लिए एक मशाल की भूमिका निभा सकती है।

लहर

मैं हुआ करती थी एक ठण्डी, पतली धारा
बहती हुई जंगलों,
पर्वतों और वादियों में
मैंने जाना कि
ठहरा हुआ पानी भीतर से मर जाता है
मैंने जाना कि
समुद्र की लहरों से मिलना
नन्ही धाराओं को नयी ज़िन्दगी देता है
न तो लम्बा रास्ता, न तो गहरे खड्ड
न ठहरकर सुस्ताने का लालच
रोक सके मुझे बहते जाने से
अब मैं जा मिली हूँ अन्तहीन लहरों से
संघर्ष में मेरा अस्तित्व है
और मेरा आराम है – मेरी मौत

— मर्ज़िएह ओस्कोई

(ईरान की क्रान्तिकारी कवयित्री जिनकी शाह-ईरान के एजेंटों ने हत्या कर दी थी)

मौजूदा दौर के किसान आन्दोलन और स्वामीनाथन आयोग की रिपोर्ट लागू करने का सवाल

पिछले कुछ समय से देश के अलग-अलग हिस्सों में किसान आन्दोलन उठते रहे हैं। हाल में राजस्थान के सीकर और कई अन्य जिलों में हुए किसान आन्दोलन की भी काफ़ी चर्चा है। इस आन्दोलन की माँगों और उसके अचानक समाप्त होने की परिस्थितियों पर 'मजदूर बिगुल' के अगले अंक में हम रिपोर्ट देंगे। इन सभी किसान आन्दोलनों की एक प्रमुख माँग रही है स्वामीनाथन आयोग की सिफ़ारिशों को लागू करना। इस सवाल पर हमें रोहतक, हरियाणा में रहने वाले 'मजदूर बिगुल' के नियमित पाठक अनु राठी का एक पत्र प्राप्त हुआ है जिसमें कुछ महत्वपूर्ण सवाल उठाये गये हैं। — सम्पादक

— अनु राठी

प्रिय सम्पादक महोदय आज किसान आन्दोलनों की सरगर्मियाँ कई जगहों पर चल रही हैं। करीब 13 दिन की ज़द्दोज़हद के बाद हाल ही में राजस्थान में चल रहा आन्दोलन थमा ही है। भाजपा द्वारा उत्तरप्रदेश में किसानों के कर्ज़ माफ़ करना भी सुर्खियों में रहा भले ही किसका कितना कर्ज़ माफ़ हुआ तथा राजनीतिक अर्थशास्त्र के दृष्टिकोण से इसका व्यापक परिप्रेक्ष्य क्या है यह एक अलग सवाल है। तमिलनाडू, महाराष्ट्र, मध्यप्रदेश, पंजाब, हरियाणा और दिल्ली देहात तक में समय-ब-समय किसानों के विभिन्न मुद्दों को लेकर संगठन और पार्टियाँ सक्रिय रहती हैं। हमारे यहाँ पर जवान और किसान दो ऐसी समूहवाचक संज्ञाएँ हैं जिनके नाम पर जन-भावनाओं का काफ़ी दोहन किया जाता रहा है। उक्त दोनों ही मामलों में वर्गों में बँटते हुए समाज को ध्यान में रखते हुए नहीं बल्कि पूरी तरह से “वर्ग निरपेक्ष रहकर की जाने वाली चर्चा” हावी रहती है। निश्चय ही इन दोनों समूहों के अन्दर झँककर देखा जाये या थोड़ी भी पड़ताल की जाये तो दोनों में ही बँटवारा साफ़-साफ़ दिखाई देगा। फ़िलहाल मैं किसान समूह पर ही अपनी कुछ बात साझा करना चाहूँगा। मैं खुद पुरतैनी तौर पर खेती-किसानी करने वाले जाट किसान परिवार में पैदा हुआ हूँ। बड़े-बूढ़े बताते हैं कि औपनिवेशिक गुलामी और हरित क्रान्ति से पहले तक हमारे इलाक़े के किसानों की काफ़ी बड़ी आबादी के आर्थिक हालात बेहद कमज़ोर थे, किन्तु आज यानी हरित क्रान्ति के बाद भी बहुत छोटा हिस्सा ही समृद्ध होकर उभरा है व बड़ा हिस्सा आज भी फाके करने को मजबूर है, लेकिन यह बात भी उल्लेखनीय है कि पहले और आज भी सामाजिक-आर्थिक-राजनीतिक स्थिति की तुलना दलित जातियों से की जाये तो निश्चित तौर पर किसानों में लगी जातियाँ इक्कीस ही पड़ती हैं। और वर्गीय तौर पर सिर्फ़ किसान जातियों की पड़ताल करने पर वर्ग ध्रुवीकरण को बड़ी ही आसानी से रेखांकित किया जा सकता है यानी किसान जातियों का छोटा हिस्सा धन-धान्य से सम्पन्न और बड़े हिस्से के आर्थिक हालात खस्ता। आज के पश्चिमी उत्तर प्रदेश से लेकर पंजाब और हरियाणा का इलाक़ा ‘यूनियनिस्ट पार्टी’ (जिसके प्रमुख नेता सर फ़ाज़िल हुसैन, सर छोटूराम और सर सिकन्दर हैयात खान थे, ज्ञात हो इन तीनों को ही सर की उपाधि से अंग्रेज़ों ने नवाज़ा था!) की राजनीति का क्षेत्र रहा है। यूनियनिस्ट पार्टी की नीतियाँ और कांग्रेस के साथ इसके अन्तर्विरोध अलग से चर्चा का विषय हैं, किन्तु उस दौर में हमारे इलाक़े में निश्चित तौर पर साहूकारों के

चंगुल से व्यापक किसान आबादी को एक हद तक आज़ादी मिली, किन्तु उत्पादकता बेहद कम होने के कारण तथा पैसे के अभाव में किसानों को परजीवी वर्गों के चंगुल में दोबारा पहुँच ही जाना होता था। लगभग पूरे भारत में ही क्रान्तिकारी तरीक़े से भूमि सुधार लागू नहीं हो सके। भूमि से सम्बन्धित अंग्रेज़ों द्वारा लागू की गयी ज़मींदारी, रैयतवाड़ी और महालवाड़ी व्यवस्थाओं की अपनी अलग-अलग विशिष्टताएँ हैं जोकि अलग से चर्चा का विषय हैं। औपनिवेशिक समाज में जातीय बँटवारे से इतर यदि वर्गीय स्थिति को देखा जाये तो साहूकारों, सूदखोरों, जैलदारों, नम्बरदारों, आदतियों, व्यापारियों और पेशेवरों का अच्छा-खासा हिस्सा ऐसा था जिसके वर्गीय हित आम किसान आबादी से अलग थे तथा इनमें आज की किसान जातियों के लोग भी शामिल थे। इसके बाद पार्टियों के तौर पर जनता पार्टी, नेशनल लोकदल, अकाली दल, व्यक्तियों के तौर पर चौधरी चरण सिंह, चौधरी देवीलाल और कृषि के सन्दर्भ में हरित क्रान्ति का दौर-दौरा आया। अब तो किसान जातियों के अन्दर का वर्गीय ध्रुवीकरण और भी तेज़ हो गया। किसानों के बीच में एक छोटा-सा ऐसा सम्पन्न वर्ग उभरकर सामने आया जो खुद लगकर खेती नहीं करता किन्तु जिसके पास विस्तृत कृषियोग्य भूमि है, कृषि करने के लिए ट्रैक्टर-कम्बाइन और अन्य मशीनें हैं तथा खाद-बीज और मजदूरों की श्रम शक्ति ख़रीदने यानी खेत मजदूरों को काम पर लगाने के लिए पर्याप्त पूँजी है। इस हिस्से के लिए खेती आज भी फ़ायदेमन्द सौदा है तथा आज के समय मौजूद किसानों के तमाम संगठन, कर्ज़ माफ़ करवाने, लाभकारी मूल्य बढ़वाने, लागत मूल्य घटवाने की बात करने वाली विभिन्न रंगों की यूनियनों किसानों के इसी हिस्से की नुमाइन्दगी करती हैं। किसानों के बीच एक बड़ा वर्ग ऐसा है, जिसके पास बहुत छोटी जोत यानी थोड़ी-सी कृषियोग्य भूमि रह गयी है। केवल कृषि पर निर्भर रहकर इस हिस्से के लिए गुजारा ही बेहद कठिन है। दाल-रोटी चलाने के लिए परिवार के किसी-न-किसी को कृषि छोड़ नौकरी की तलाश में निकलना पड़ता है या फिर कोई और धन्धा जमाना पड़ता है।

हमारा इलाक़ा देश का वह क्षेत्र है जहाँ पर ‘उत्तम खेती; मध्यम व्यापार, नक्रद चाकरी; भीख द्वार’ कहावत दशकों तक चलती रही, किन्तु आज स्थिति यह है कि बेटे हेतु चपड़ासी की नौकरी के लिए ही एक गरीब किसान अपनी ज़मीन का टुकड़ा गहने रखने (रेहन पर रखने) या फिर बेचने तक के लिए तैयार बैठा है। पर्याप्त पूँजी और संसाधन नहीं होने के कारण न केवल कृषि बल्कि सामूहिक चरागाहों के

समाप्त हो जाने के साथ ही छोटे पैमाने का पशुपालन भी इस हिस्से के लिए घाटे का सौदा बन चुका है। सहकारी समितियों, बैंकों से लेकर सूदखोरों के कर्ज़ तले किसानों का यही हिस्सा दबा रहता है। किसानों के इस हिस्से की असल माँगों को उठाने वाला व सही तौर पर इनके आर्थिक-राजनीतिक हितों की नुमाइन्दगी करने वाला नेतृत्व नदारद है। जाने-अनजाने में यह हिस्सा धनी किसानों की माँगों पर होने वाली रैलियों में सिर पर कफ़न बाँधकर चलता है तथा व्यापक नज़रिये से देखा जाये तो इसे उनमें कुछ भी हासिल नहीं होता। किसानों की इसी बहुसंख्या के बीच के लोग आत्महत्याएँ करने को विवश होते हैं तथा यही हिस्सा है जो कर्ज़ माफ़ी के झुनझुने के लिए, स्वामीनाथन रिपोर्ट को लागू करवाने, लाभकारी मूल्य हासिल करने आदि जैसी माँगों पर सत्ता की लाठियों-गोलियों का सामना करता है। इतना ही नहीं आरक्षण जैसे फ़र्जी मुद्दों पर भी गरीब किसानों का यही हिस्सा अन्य जातियों के गरीबों के साथ सिरफुट्टीवल करता है। कृषि जोत के आकार और किसानों में विभेदीकरण से सम्बन्धित व्यापक आँकड़ों के साथ बात न भी की जाये तब भी उपरोक्त ज़मीनी हकीकत से मुँह नहीं चुराया जा सकता।

अब आते हैं स्वामीनाथन आयोग की रिपोर्ट पर। सन 2004 में तत्कालीन कांग्रेस नीत यूपीए/संप्रग सरकार के कार्यकाल में मोनकोम्पू साम्बासिवन स्वामीनाथन की अध्यक्षता में अनाज की आपूर्ति को सुनिश्चित करने के लिए तथा किसानों की आर्थिक हालत को बेहतर करने के मक़सद से ‘नेशनल कमीशन ऑन फॉर्म्स’ का गठन किया गया था। इस आयोग ने अपनी पाँच रिपोर्टें पेश की थीं। आयोग ने अन्तिम और पाँचवीं रिपोर्ट सरकार को 4 अक्टूबर 2006 को सौंपी थी। आयोग द्वारा की गयी सिफ़ारिशों में किसान आत्महत्याओं के समाधान, राज्य स्तरीय किसान आयोग बनाने, सेहत सुविधाओं से लेकर वित्त-बीमा की स्थिति सुनिश्चित करने पर जोर दिया गया था। एक सिफ़ारिश यह भी थी - जिसे किसानों के ‘रहनुमाओं’ द्वारा कर्ज़ माफ़ी के बाद आज सबसे जोरदार ढंग से उठाया जाता है - कि सरकारों द्वारा ‘न्यूनतम समर्थन मूल्य’ (‘एमएसपी’) औसत लागत से 50 प्रतिशत अधिक होना चाहिए।

प्रकृति की तरह मानव समाज में भी कुछ सुनिश्चित नियम काम करते हैं। भले ही हम उन नियमों को जानते हों या फिर उनसे अनजान हों, किन्तु वे नियम अपने क्रिया-व्यापार में लगे रहते हैं। जिस तरह समन्दर के बारे में कहा जाता है कि ‘बड़ी मछली छोटी मछली को खाती है’ उसी तरह से पूँजीवादी समाज में भी बड़ी पूँजी हमेशा छोटी पूँजी को

निगलती है। पूँजी संकेन्द्रण पूँजीवादी समाज की आम प्रवृत्ति है। भावनाओं के ज्वार में बहने की बजाय यदि तर्क को थोड़ी तवज्जो दी जाये तो छोटी पूँजी का उजड़ना आज नहीं तो कल निश्चित है। आज के समय पूँजी निवेश करके की जाने वाली खेती और छोटे पैमाने की खेती-किसानी के सन्दर्भ में भी यह बात उतनी ही सच है। अन्नदाता किसान की छवि को एक तरफ़ रखकर सोचने पर पता चलेगा कि कृषि भी एक व्यवसाय है तथा आज की पूँजीवादी व्यवस्था में इसका उद्देश्य भी मुनाफ़ा कमाना ही है। बड़ी पूँजी, उन्नत मशीनों, आधुनिक खाद-बीज और श्रम शक्ति को ख़रीदकर उत्पादन में लगाने की कुव्वत रखने वाले धनी किसान या राजनीतिक अर्थशास्त्र की भाषा में जिन्हें ‘कुलक फ़ार्मर’ कहा जाता है अधिक मुनाफ़ा कमाने की स्थिति में होते हैं, जबकि छोटी जोत व सीमित संसाधनों वाले गरीब किसान बाज़ार की दौड़ में कहीं पीछे रह जाते हैं। धीरे-धीरे ऐसी स्थिति भी आ जाती है कि ज़मीन का संकेन्द्रण धनी किसान के पक्ष में हो जाता है यानी गरीब किसानों की ज़मीन ख़रीदे जाने, रेहन आदि के रूप में धनी किसान के पास पहुँच जाती है। कृषि कर्म से किसी भी रूप में ज़रा भी ताल्लुक रखने वाले व्यक्ति के लिए यह बात कोई नयी नहीं है।

लाभकारी मूल्य बढ़ाने की बात की जाती है तो यह भी ध्यान में रखना चाहिए कि गरीब किसानों का बहुत बड़ा हिस्सा ऐसा है जोकि बाज़ार में बेचता कम है, जबकि बाज़ार से ख़रीदता ज़्यादा है। उदाहरण के लिए हमारी तरफ़ का दो एकड़ का एक किसान अपनी ज़रूरतानुसार अनाज रखकर यदि बाज़ार या मण्डी में साल भर में 50 मन यानी 20 क्विण्टल गेहूँ और 10 मन यानी 4 क्विण्टल बाजरा भले ही बेच लेगा, किन्तु उसे साल-भर बाज़ार से चीनी, चाय पत्ती, तम्बाकू, रिफ़ाइनड-सरसों तेल, पशुओं के लिए खल-बिनोला, फ़ल-साग-सब्ज़ी, दाल-चावल, सूती वस्त्र इत्यादि तो ख़रीदने ही पड़ेंगे और बहुत सारे औद्योगिक उत्पाद में भी कच्चे माल के तौर पर कृषि उत्पाद का ही इस्तेमाल होता है। और ध्यान देने योग्य बात यह है कि ख़रीदी जाने वाली वस्तुओं (कृषि उत्पाद) का कुल मूल्य बाज़ार में बेची जाने कृषि उपज से कहीं ज़्यादा ही बैठेगा! फिर यदि फ़सलों के दाम बढ़ेंगे यानी न्यूनतम समर्थन मूल्य बढ़ेगा तो सभी फ़सलों का ही बढ़ेगा। ठीक इसीलिए गरीब किसान के लिए लाभकारी मूल्य की माँग एक घाटे का सौदा है। जबकि धनी किसान के मामले में स्थिति अलग होगी। यदि इसी इलाक़े का एक 20 एकड़ वाला किसान 400 क्विण्टल गेहूँ और 80 क्विण्टल बाजरा मण्डी में बेचेगा तो उसके लिए

स्थिति मुनाफ़े वाली होगी, क्योंकि वह जितनी उपज बाज़ार में बेचता है, उससे बहुत कम ही ख़रीदता है। फिर बड़ी पूँजी होने के कारण इस वर्ग के पास कृषि में निवेश करने के विकल्प भी अधिक होते हैं। और कृषि-कार्य में सिर्फ़ किसान तो लगे नहीं होते, बल्कि बहुत बड़ा खेत मजदूर करने वाला तबक़ा भी कृषि कार्य से जुड़ा होता है, उसे तो सब कुछ बाज़ार से ख़रीदना ही पड़ता है। और तमाम किसान यूनियनों और किसान संगठन खेत मजदूरों की माँगों का तो कभी ज़िक्र ही नहीं करते, बहुत बार सिर्फ़ नाम-भर ही लेते हैं। फ़सलों के दाम बढ़ते हैं या फिर बढ़ाये जाते हैं तो उसका सीधा फ़ायदा धनी किसानों, आदतियों (कमीशन एजेंटों), व्यापारियों के पूरे वर्ग को ही होता है। फिर यदि इसी बात को व्यापक परिप्रेक्ष्य में देखा जाये तो समाज में सर्वहाराओं के रूप में बहुसंख्यक हिस्सा ऐसे मजदूरों का है जिनके पास अपनी मानसिक और शारीरिक श्रम शक्ति बेचने के अलावा कुछ है ही नहीं। जिन्हें बाज़ार से सबकुछ ख़रीदना ही पड़ता है। यदि महँगाई बढ़ेगी तो इसी वर्ग की जेब पर तो डाका डलेगा, सरकार में बैठे नेतागण या फिर किसानों की ‘रहनुमाई’ करने वाले अपने घर से थोड़ा न कुछ दे देंगे! अब खुल्लम-खुल्ला धनी किसानों की राजनीति करने वालों के बारे में तो कहा ही क्या जाये, किन्तु गरीब किसानों व मजदूरों का नाम लेने वाली यूनियनों और पार्टियों के बारे में ज़रूर सोचा जाना चाहिए कि वे किस वर्ग के पक्ष में खड़े हैं।

कर्ज़ माफ़ी के मामले में भी यही चीज़ लागू होती है। स्वामीनाथन आयोग की सिफ़ारिशें पेश किये जाने के बाद से ही यदि देखा जाये तो कई बार अलग-अलग मौक़ों पर बिजली बिलों से लेकर, कर्ज़ माफ़ होते रहे हैं किन्तु गरीब किसान फिर-फिर कर्ज़ के बोझ तले खुद को दबा हुआ पाते हैं। 30 दिसम्बर 2016 को जारी की गयी ‘एनसीआरबी’ के आँकड़ों के अनुसार ही साल 2015 में 12,602 किसानों और खेत मजदूरों ने आत्महत्याएँ की थीं जो कि साल 2014 में हुई आत्महत्याओं में 2 प्रतिशत की बढ़ोत्तरी थी। और कर्ज़ केवल गरीब किसान ही नहीं लेते, बल्कि धनी किसान भी लेते हैं जिसे वे माफ़ी के दौरान सीधे तौर पर निगल जाते हैं और शुद्ध मुनाफ़ा कमाते हैं। कर्ज़ माफ़ी का टोना-टोटका और झाड़-फूँक तात्कालिक तौर पर भले ही राहत देती प्रतीत होती हो, किन्तु दूरगामी तौर पर यह भी छलावा-मात्र ही है। पूँजीवादी व्यवस्था की गतिकी ही ऐसी है कि इसमें गरीब किसानों की हालत बद से बदतर होती जाती है तथा इनका एक हिस्सा लगातार उजड़कर उजरती मजदूर

(पेज 11 पर जारी)

बहुत होते हैं सत्तर साल अपनी बरबादी को पहचानने के लिए! किस चीज़ का इन्तज़ार है? और कब तक?

साथियो!
आज़ादी के 70 वर्ष बीत चुके हैं। हर स्वतन्त्रता दिवस पर हम अपनी छतों-मुण्डेरों पर तिरंगे फहराकर खुद को यह याद दिलाने की कोशिश करते हैं कि हम आज़ाद हैं। देश का खाता-पीता उच्च मध्यवर्ग भी अपनी कार के शीशे उतारकर रेड लाइटों पर ग़रीबों के बच्चों से 5-5 रुपये में तिरंगा ख़रीदकर अपनी 'राष्ट्रभक्ति' साबित कर देता है। लेकिन सवाल यह है कि सात दशकों के आज़ाद भारत में किसे क्या मिला? किसकी कोठियाँ और बंगले खड़े हो गये और कौन मुफ़लिसी की जिन्दगी बिता रहा है? यह किसकी आज़ादी है? कौन हर स्वतन्त्रता दिवस और गणतन्त्र दिवस पर आज़ादी का जश्न मना रहा है और कौन झुग्गी-बस्तियों और झोपड़ियों में अपने हालात का मातम मना रहा है? इन सवाल का जवाब पाने के लिए आइए कुछ ठोस सच्चाइयों और आँकड़ों पर निगाह डालें।

सात दशकों की आज़ादी या आम जनता की बरबादी?

पहले मनमोहन सिंह की कांग्रेस-नीत सरकार और अब नरेन्द्र मोदी की भाजपा-नीत सरकार ये दावे करती रही हैं कि भारत तेज़ रफ़्तार से तरक्की कर रहा है। वृद्धि दर 7-8 प्रतिशत तक पहुँच रही है! यह सच है कि देश के ऊपर के 15 फ़ीसदी लोगों के लिए देश में तरक्की हो रही है। अम्बानी-अडानी और टाटा-बिड़ला जैसों के लिए देश ज़रूर तरक्की कर रहा है। खाते-पीते उच्च मध्यवर्ग को भी इस तरक्की की मलाई मिल रही है। उनके लिए शॉपिंग मॉल, आठ लेन के एक्सप्रेस वे से लेकर मल्टीप्लेक्सों की भीड़ लग गयी है। लेकिन इन सारी धन-दौलत और ऐशो-आराम के सामान पैदा करने वाले 80 प्रतिशत मज़दूरों, ग़रीब किसानों और आम मेहनतकश अवाम को क्या इस विकास से कुछ हासिल हुआ है? हाँ, हुआ है! कमरतोड़ महँगाई, भुखमरी, ग़रीबी, कुपोषण, बेघरी और बेरोज़गारी! आइए कुछ आँकड़ों पर निगाह दौड़ाते हैं।

तरक्की के तमाम दावों के बावजूद हमारे देश में आज भी क़रीब 20 करोड़ लोग रोज़ भूखे सोते हैं। 2006 की एक सरकारी रपट के अनुसार 77 प्रतिशत भारतीय जनता 20 रुपये प्रतिदिन से कम की आय पर जीती है। 58 प्रतिशत बच्चे दो वर्ष के होते-होते बाधित विकास के शिकार हो जाते हैं। 3000 बच्चे रोज़ सिर्फ़ भूख से मरते हैं और अन्य भोजन व स्वास्थ्य-सम्बन्धी कारणों से होने वाली बच्चों की मौतों को जोड़ दें तो यह आँकड़ा क़रीब 9000 पहुँच जाता है। दुनिया-भर में पाँच वर्ष से कम आयु में होने वाली मौतों का 24 प्रतिशत भारत में होता है। दुनिया में नवजात मृत्यु का 30 प्रतिशत अकेले हमारे देश में होता है। भारत दुनिया का सबसे बड़ा

कुपोषण-पीड़ित देश है। पाँच वर्ष से कम उम्र के सभी बच्चों में 42 प्रतिशत कम वज़न के हैं। 20 प्रतिशत बच्चे क्षीण (वेस्टेड) हैं। वैश्विक न्यूनतम ग़रीबी दर 1.25 डॉलर प्रतिदिन है लेकिन भारत के 90 प्रतिशत लोग 1 डॉलर प्रतिदिन से कम कमाते हैं। इन भयंकर हालात के कारण जानने के लिए मोदी सरकार के अन्तिम बजट पर नज़र डालना काफ़ी होगा।

आखिरी बजट 21,47,000 करोड़ (लगभग 21.5 लाख करोड़) रुपये का था। इसमें से श्रम और रोज़गार सृजन के लिए मात्र 7,378 करोड़ रुपये (0.34 प्रतिशत) रखा गया था। उच्चतर शिक्षा के लिए मात्र 33330 करोड़ रुपये रखे गये हैं। मानव संसाधन विकास के लिए मात्र 79,686 करोड़ रुपये, यानी कुल बजट का मात्र 3.71 प्रतिशत रखा गया है। जन स्वास्थ्य हेतु कुल बजट का मात्र 1.1 प्रतिशत खर्च किया जायेगा। दूसरी ओर सार्वजनिक खर्चों में और जनता हेतु खाद्यान्न के लिए मिलने वाली सब्सिडी में भारी कटौती की गयी है और जन वितरण प्रणाली का बण्टाधार कर दिया गया है। यह प्रक्रिया मनमोहन सिंह सरकार ने ही शुरू कर दी थी। एग्रो-आधारित व सम्बन्धित क्षेत्र में वायदा व्यापार और अडानी जैसे पूँजीपतियों को दाल व तेल आदि की जमाखोरी और सट्टेबाज़ी की खुली छूट दे दी गयी है। यही कारण है कि खाने के सामानों की महँगाई नियन्त्रण में नहीं आने वाली है। सब्सिडियाँ और दालें आम मेहनतकश आबादी की तश्तरी से ग़ायब हो चुकी हैं। देश में कुल कार्यशक्ति है क़रीब 77 करोड़ जबकि कुल रोज़गार है 48 करोड़, यानी कि क़रीब 29 करोड़ काम करने योग्य लोग बेरोज़गार हैं। 4 करोड़ लोग तो पढ़े-लिखे बेरोज़गार हैं जो ग्रेजुएट व पोस्ट-ग्रेजुएट की डिग्रियों के साथ खलासी व चपरासी के पदों के लिए आवेदन कर रहे हैं! आज देश में क़रीब 22 करोड़ असंगठित मज़दूर 12-12 घण्टे काम कर रहे हैं। यदि 8 घण्टे के कार्यदिवस के क़ानून को ही सरकार लागू कर दे तो 11 करोड़ नये रोज़गार तुरन्त पैदा हो जायेंगे! लेकिन उल्टा सरकार एक नये क़ानून के ज़रिये बाल मज़दूरी तक को खुली छूट दे रही है और नये श्रम क़ानूनों के ज़रिये ठेका मज़दूरी को बढ़ाने का काम कर रही है। ऐसे में, ज़ाहिर है कि बेरोज़गारी आने वाले समय में और ज़्यादा बढ़ेगी। सरकारी नौकरियों में भर्ती में भारी कटौती की गयी है और सरकारी उपक्रमों में भी नयी भर्तियाँ अधिकतर ठेके पर हो रही हैं। यही कारण है कि रोज़गार सृजन पर कुल बजट का मात्र 0.34 प्रतिशत रखा गया है। वहीं दूसरी ओर सरकार अन्धराष्ट्रवाद और पाकिस्तान का भय दिखाकर रक्षा क्षेत्र पर बजट का 16.76 प्रतिशत खर्च कर रही है, यानी, 359,854 करोड़ रुपये! लेकिन वास्तव में पुलिस और

फ़ौज-फाटे का इस्तेमाल देश-भर में मज़दूर आन्दोलनों को कुचलने, आम मेहनतकश जनता को दबाकर रखने, कश्मीर व उत्तर-पूर्व में दमन के लिए होता है। आज जो युद्धोन्माद फैलाया जा रहा है, उसकी असलियत भी हमें समझने की ज़रूरत है साथियो।

दोस्तो! ग़रीब मेहनती जनता के आँसुओं के समन्दर में कुछ ऐयाशी की मीनारें खड़ी हैं। ये ऐयाशी की मीनारें देश की 15 फ़ीसदी आबादी, यानी पूँजीपतियों, नेताओं-नौकरशाहों, ठेकेदारों, शेर्यर दलालों और उच्च मध्यवर्ग की हैं। बजट में क़रीब 1300 करोड़ रुपये केवल राष्ट्रपति, प्रधानमन्त्री और संसद पर खर्च के लिए रखे गये हैं। संसद-नामक सुअरबाड़े की एक मिनट की कार्रवाई पर 3 लाख रुपये, यानी प्रतिदिन क़रीब 14 करोड़ रुपये खर्च होते हैं। और इस खर्च पर बनाये जाते हैं जनता-विरोधी क़ानून और नियम! हर सांसद को प्रतिवर्ष 0.48 करोड़ रुपये मिलते हैं। अगर इसमें विकास निधि को जोड़ दें तो सांसदों को मिलने वाली रकम हो जाती है 2.5 करोड़ रुपये प्रतिवर्ष। यानी कि 543 सांसदों को प्रतिवर्ष 1500 करोड़ रुपये मिलते हैं! देश के फ़ौज, पुलिस, नौकरशाही, वीआईपी सुरक्षा और कैबिनेट पर ही हर साल अरबों रुपये खर्च होते हैं। इस भारी-भरकम और खर्चीले जनतन्त्र की क्रीमत पूँजीपतियों से नहीं बल्कि जनता से वसूली जाती है। यही कारण है कि पिछले तीन दशकों से अप्रत्यक्ष करों में लगातार बढ़ोत्तरी की जा रही है और पूँजीपतियों से वसूला जाने वाला कारपोरेट टैक्स व प्रत्यक्ष कर (आयकर) घटाया जा रहा है। देश के सबसे धनी 0.01 प्रतिशत लोगों और बाक़ी जनता की औसत आय में क़रीब 200 गुने का अन्तर है। सात दशकों में पूँजीपति घरानों की सम्पत्ति में 1000 गुने तक की बढ़ोत्तरी हुई है। जनता के जल-जंगल-जमीन की लूट के ज़रिये पिछले 15 वर्षों में इसमें और ज़्यादा तेज़ रफ़्तार से बढ़ोत्तरी हुई है। ये दो तस्वीरें हैं एक ही देश की। एक ओर ग़रीबी और मुफ़लिसी की शिकार 80 प्रतिशत जनता है और दूसरी ओर मुट्ठी-भर धनपशु हैं, जो परजीवी जोंकों के समान जनता के शरीर से चिपके हुए उसका खून चूस रहे हैं। पिछले सात दशकों की आज़ादी में हमें यही हासिल हुआ है : ग़रीबों के आँसुओं के समन्दर में अमीरज़ादों की ऐश्वर्य की मीनारें!

शासक वर्गों द्वारा फैलाये जा रहे युद्धोन्माद की असलियत को पहचानो!

आज पाकिस्तान और चीन से युद्ध भड़काने की साज़िशें चल रही हैं। कारपोरेट घरानों के दरबारी और भाट की भूमिका अदा करने वाला इलेक्ट्रॉनिक व प्रिण्ट मीडिया युद्धोन्माद भड़का

रहा है। भारत का सोशल मीडिया पर उछलकूद मचाने वाला उच्च मध्यवर्ग इस उन्माद में पगला-सा गया है। लेकिन ज़रा सोचिए दोस्तो! इस युद्ध से किसे क्या मिलेगा? इस युद्ध में क्या इस उच्च मध्यवर्ग के लोग मरेंगे? सीमा पर कौन लड़ेगा? मज़दूरों और किसानों के बेटे-बेटियाँ और मरेंगे भी वही! आज भारत और पाकिस्तान दोनों ही देशों में महँगाई, बेरोज़गारी और ग़रीबी चरम पर है। हुक्मरान जनता के बीच अलोकप्रिय हो रहे हैं और उनकी सत्ता संकटग्रस्त है। ऐसे में, सबसे अच्छा होता है कि एक युद्ध पैदा करके जनता के गुस्से को ग़लत दिशा में मोड़ दिया जाये और अन्धराष्ट्रवाद की लहर में सारे असली मुद्दे किनारे कर दिये जायें। आज दोनों देशों के हुक्मरानों को इससे फ़ायदा है। इसीलिए आज यह युद्धोन्माद भड़काया जा रहा है। भाजपा के सुब्रमण्यम स्वामी ने एक बार कहा था कि भारत को पाकिस्तान पर आणविक हमला कर देना चाहिए और खुद भारतीय जनता को आणविक युद्ध में 10 करोड़ लोगों की कुरबानी देने के लिए तैयार रहना चाहिए! यह फासीवादी पागलपन दोनों ही देशों को विनाश की ओर ले जायेगा। स्वामी जैसे अर्द्ध-पागलों से पूछा जाना चाहिए कि क्या वे अपने बच्चों, नाती-पोतों को आणविक युद्ध करने के लिए भेजेंगे? क्या मोदी, गडकरी, राजनाथ सिंह, पर्रीकर जैसे लोग खुद ये युद्ध लड़ने जायेंगे? नहीं दोस्तो! इसमें दोनों देशों के ग़रीबों के बेटे-बेटियाँ मरेंगे! युद्ध के दौरान ये हुक्मरान तो अपने सुरक्षित बंकरों में जाम छलका रहे होंगे! इसलिए हमें इस युद्धोन्माद में क़तई नहीं फँसना चाहिए और असल मुद्दों पर सोचना और लड़ना चाहिए।

जाति-धर्म के झगड़े छोड़ो! सही लड़ाई से नाता जोड़ो!

दोस्तो! इस समय पूरे देश में एक बार फिर से जाति और धर्म के नाम पर जनता को बाँटा जा रहा है। एक तरफ़ हिन्दू और मुसलमान के बीच धर्म के नाम पर झगड़े पैदा किये जा रहे हैं, तो वहीं दूसरी ओर आरक्षण के नाम पर नौजवान आबादी को आपस में लड़ाया जा रहा है। संघ परिवार कभी 'लव-जिहाद' का नक़ली मुद्दा उछालता है तो कभी 'राम मन्दिर' का। जब ये फेल हो जाते हैं तो गोरक्षा के नाम पर धर्मिक उन्माद पैदा किया जाता है। क्या आपने कभी सोचा है कि हमेशा उसी समय ये झगड़े क्यों पैदा किये जाते हैं जब देश में महँगाई, बेरोज़गारी और ग़रीबी अपने चरम पर होती है? क्या आपने कभी सोचा है कि जाति-धर्म के झगड़ों में हमेशा हर समुदाय के आम मेहनतकश क्यों मरते हैं, कभी कोई तो गड़िया या ओवैसी क्यों नहीं मरता? दोस्तो! ज़रा गहराई से सोचिए!

आरक्षण की राजनीति के बारे में जितना कहा जाये कम है। आज चारों

ओर "रोज़गारविहीन विकास" का बोलबाला है। नौकरियाँ लगातार घट रही हैं और बेरोज़गारी लगातार बढ़ रही है। ऐसे समय में सत्ताधारी वर्ग जब नौकरियों या उच्च शिक्षा में आरक्षण का लुकमा फेंकते हैं तो पहले से नौकरियों पर आश्रित, मध्यवर्गीय, सवर्ण जातियों के छात्रों और बेरोज़गार युवाओं को लगता है कि आरक्षण की बैसाखी के सहारे दलित और पिछड़ी जातियाँ उनके रोज़गार के रहे-सहे अवसरों को भी छीन रही हैं। वे इस ज़मीनी हक़ीक़त को नहीं देख पाते कि वास्तव में रोज़गार के अवसर ही इतने कम हो गये हैं कि यदि आरक्षण को एकदम समाप्त कर दिया जाये तब भी सवर्ण जाति के सभी बेरोज़गारों को रोज़गार नहीं मिल पायेगा। साथ ही, उच्च व मध्य जाति की आम मेहनतकश जनता में भी ब्राह्मणवादी विचारों का प्रभाव इन्हीं जातियों के कुलीनों द्वारा स्थापित किया जाता है। यही कारण है कि उनके सामने कभी मैनेजमेण्ट कोटा या एनआरआई कोटा को लेकर शोर नहीं मचाया जाता, मगर जातिगत आरक्षण के मसले पर उन्हें "योग्यता के साथ खिलवाड़" की याद दिलायी जाती है। वास्तव में, यहाँ योग्यता-अयोग्यता का कोई प्रश्न ही नहीं है। चूँकि शासक वर्ग आज अपनी निजीकरण-उदारीकरण की मुनाफ़ाखोर नीतियों के कारण रोज़गार दे ही नहीं सकता, इसलिए आरक्षण को मुद्दा बनाकर ग़ैर-दलित बेरोज़गारों के समक्ष दलित आबादी को एक नक़ली दुश्मन बनाकर खड़ा कर दिया जाता है, जैसा कि हालिया महीनों में लगातार किया गया है।

लेकिन ठीक इसी तरह दलित और पिछड़ी जाति के युवाओं को दलितों के बीच पैदा हुआ एक छोटा-सा शासक वर्ग यह नहीं देखने देता कि यदि आरक्षण के प्रतिशत को कुछ और बढ़ा दिया जाये और यदि वह ईमानदार और प्रभावी ढंग से लागू कर दिया जाये, तब भी दलित और पिछड़ी जातियों के पचास प्रतिशत बेरोज़गार युवाओं को भी रोज़गार नसीब न हो सकेगा। उनके लिए रोज़गार के जो थोड़े से नये अवसर उपलब्ध होंगे, उनका भी लाभ मुख्यतः मध्यवर्गीय बन चुके दलितों और आर्थिक-सामाजिक-राजनीतिक रूप से प्रभावशाली पिछड़ी जातियों के लोगों की एक अत्यन्त छोटी-सी आबादी के खाते में ही चला जायेगा तथा गाँवों-शहरों में सर्वहारा-अर्द्धसर्वहारा का जीवन बिताने वाली बहुसंख्यक आबादी को इससे कुछ भी हासिल नहीं होगा। आज जो आरक्षण है, उसकी सीटें न भरना भ्रष्टाचार है और हमें इसका विरोध करना चाहिए। मगर साथ ही हमें दलित मेहनतकश अवाम को भी समझाना चाहिए कि आरक्षण के रास्ते अब कुछ विशेष हासिल नहीं होने वाला है। ऐसे समय में जब मोदी (पेज 9 पर जारी)

बहुत होते हैं सत्तर साल अपनी बरबादी को पहचानने के लिए!

किस चीज़ का इन्तज़ार है? और कब तक?

(पेज 8 से आगे)

सरकार घोषित तौर पर बची-खुची सरकारी नौकरियों को खत्म कर रही है और देश के सारे लोगों को "उद्यमी" बन जाने की सलाह दे रही है, तो आरक्षण का लाभ कैसे और किसे मिल पायेगा? इसलिए आरक्षण के पक्ष या विपक्ष में खड़े होना वास्तव में उस चीज़ के लिए लड़ना है, जो कि है ही नहीं! लेकिन सरकार यही चाहती है कि हम इसके पक्ष या विपक्ष में खड़े हो जायें। यह शासक वर्ग का 'ट्रैप' है और इसमें हमें क़तई नहीं फँसना चाहिए और 'सभी के लिए समान व निशुल्क शिक्षा तथा सभी के लिए रोज़गार' को संवैधानिक तौर पर हरेक नागरिक के बुनियादी अधिकार के तौर पर मान्यता देने के लिए लड़ना चाहिए। हमें आज वर्ग-आधारित जाति-विरोधी आन्दोलन खड़ा करते हुए 'सभी को समान व निशुल्क शिक्षा व सभी को रोज़गार' को बुनियादी अधिकार बनाने के लिए लड़ना चाहिए।

शहीदे-आज़म भगतसिंह का सपना : खत्म करो पूँजी का राज! लड़ो बनाओ लोकस्वराज्य!

साथियों, शहीदे-आज़म भगतसिंह ने फाँसी पर चढ़ने से पहले ही कहा था कि अगर कांग्रेस के नेतृत्व में आज़ादी आती है तो वह मुट्ठी-भर धन्नासेटों की आज़ादी होगी और इससे देश के गरीब किसानों और मज़दूरों को कुछ विशेष प्राप्त नहीं होगा। लॉर्ड इरविंग और लॉर्ड कैनिंग की जगह ठाकुर दास और पुरुषोत्तम दास ले लेंगे लेकिन मज़दूरों का शोषण बदस्तूर जारी रहेगा, जनता पहले के ही समान गरीबी और बेरोज़गारी का दंश झेलती रहेगी। सात दशकों की आज़ादी के अनुभव ने इन भविष्यवाणियों को शब्दशः सही साबित किया है। भगतसिंह और उनके साथियों का मानना था कि उनकी लड़ाई

केवल अंग्रेज़ी गुलामी के खिलाफ नहीं है, बल्कि हर प्रकार के शोषण और लूट के खिलाफ है। भगतसिंह ने कहा था, "हम गोरी बुराई की जगह भूरी बुराई लाने की ज़हमत नहीं उठाना चाहते।" भगतसिंह का मानना था कि इस देश के आम मेहनतकश गरीबों को सच्ची आज़ादी मिलने का केवल एक अर्थ हो सकता है - समस्त कल-कारखानों, सभी खेतों-खलिहानों और सभी खानों-खदानों पर आम मेहनतकश अवाम का साज़ा हक़। एक ऐसी व्यवस्था को ही हम लोकस्वराज्य व्यवस्था कहते हैं। सिर्फ़ स्वराज्य नहीं! बल्कि आम मेहनतकश जनता का स्वराज्य! इससे कम कुछ भी हम आम मेहनतकश लोगों की ज़िन्दगी में बेहतर नहीं ला सकता है। सरकारें बदलती रहेंगी, लेकिन उनकी पूँजी-परस्त नीतियाँ वही रहेंगी। क्या पिछले कई दशकों के दौरान ये साबित नहीं हुआ है? इसलिए हम शहीदे-आज़म भगतसिंह का अनुसरण करते हुए आज एक ऐसी लोकस्वराज्य व्यवस्था के निर्माण को अपना लक्ष्य मानते हैं। शहीदे-आज़म भगतसिंह ने यह भी कहा था कि ऐसी व्यवस्था का निर्माण खुद-ब-खुद नहीं हो सकता है। यह कार्य मेहनतकश जनता को स्वयं करना होगा। साथ ही, उन्होंने यह भी कहा था कि आम मेहनतकश जनता यह कार्य तभी कर सकती है, जब वह अपनी क्रान्तिकारी पार्टी का निर्माण करे। यह क्रान्तिकारी पार्टी चुनावों की नौटंकी के ज़रिये नहीं बल्कि क्रान्ति के ज़रिये सत्ता मेहनतकश जनता के हाथों में पहुँचायेगी! हम सभी जानते हैं कि चुनावों में इस या उस पार्टी की सरकार बनने से समूची राज्य व्यवस्था में कोई फ़र्क़ नहीं आता; पुलिस, फ़ौज, नौकरशाही, न्यायपालिका, क़ानून-संविधान वही रहते हैं। वास्तव

में, व्यवस्था का ये पूरा ढाँचा अगर बरकरार रहता है, तो अब्बलन तो कोई क्रान्तिकारी पार्टी चुनावों में बहुमत प्राप्त कर ही नहीं सकती, और अगर किसी तरह बहुमत प्राप्त कर भी लेती तो महज़ इस जीत के आधार पर वह कोई परिवर्तन नहीं ला सकती। जैसे ही वह बैंक, वित्तीय संस्थानों, उद्योगों, खानों-खदानों आदि का राष्ट्रीयकरण करेगी वैसे ही देश के धन्नासेट, ठेकेदार, बड़े व्यापारी सेना और पुलिस की अधिकारी जमातों के साथ मिलकर और साम्राज्यवाद की मदद से उसका तख़्तापलट करने का प्रयास करेंगे। ऐसे में, भी अन्ततः फ़ैसला बल प्रयोग से ही होगा। भगतसिंह का इसीलिए मानना था कि जनता की व्यापक पहलक़दमी और भागीदारी पर आधारित इंकलाब के रास्ते ही समूची पूँजीवादी राज्यसत्ता के इन सभी खाने के दाँतों को तोड़ा जा सकता है और एक सच्चा लोकस्वराज्य स्थापित किया जा सकता है। हमारा मानना है कि आठ दशकों बाद भी शहीदे-आज़म की यह बात सही है और इस पर अमल के ज़रिये ही एक नयी व्यवस्था, एक नये समाज का निर्माण सम्भव है। इसका यह अर्थ क़तई नहीं है कि मज़दूर वर्ग की क्रान्तिकारी पार्टी को चुनाव के क्षेत्र को पूँजीपतियों, अमीरों और अम्बानियों-अदानियों की नुमाइन्दगी करने वाली तमाम चुनावबाज़ पार्टियों के लिए ख़ाली छोड़ देना चाहिए! उल्टे मज़दूरों-मेहनतकशों की इंकलाबी पार्टी को पूँजीवादी चुनावों में भी रणकौशलात्मक तौर पर हस्तक्षेप करना चाहिए और उसमें मज़दूरों-मेहनतकशों के अलग व स्वतन्त्र क्रान्तिकारी पक्ष को खड़ा करना चाहिए। अगर ऐसा नहीं किया जाता, तो मज़दूर वर्ग का एक अच्छा-खासा हिस्सा इस या उस अमीरजादों की चुनावबाज़ पार्टी का पिछलग्गू

बनेगा। इसके अतिरिक्त, इन चुनावों को क्रान्तिकारी पार्टी को अपने क्रान्तिकारी प्रचार के मंच के तौर पर प्रयोग करना चाहिए। इस तौर पर, मेहनतकशों की इंकलाबी पार्टी को चुनावों का रणकौशलात्मक प्रयोग करना चाहिए और इस मैदान को "धनपशुओं की चुनावबाज़ पार्टियों की धींगामुश्ती के लिए ख़ाली नहीं छोड़ना चाहिए। आज ऐसी कोई देशव्यापी इंकलाबी मज़दूर पार्टी नहीं है, लेकिन उसे खड़ा करना आज मेहनतकश-मज़दूरों का सबसे बड़ा कार्यभार है। जाहिर है, इस रणकौशलात्मक भागीदारी से ही क्रान्ति का ऐतिहासिक कार्यभार सम्पन्न नहीं होगा, लेकिन इसके बग़ैर इस महान कार्यभार को पूरा करने की दिशा में आगे बढ़ना भी मुश्किल होगा।

यह रास्ता मुश्किल और लम्बा है दोस्तो! लेकिन यही एकमात्र रास्ता है। हम पिछले वर्षों में अण्णा हज़ारे के 'इण्डिया अगेंस्ट करप्शन' और केजरीवाल की आम आदमी पार्टी के दोंग और नौटंकी को भी देख चुके हैं। ये भी वास्तव में छोटे मालिकों, ठेकेदारों और व्यापारियों की ही पार्टी है। कांग्रेस और भाजपा के बारे में जितना कम कहा जाये अच्छा है। संसदीय वामपन्थियों (भाकपा, माकपा व भाकपा-माले) का काम हमेशा से पूँजीवादी व्यवस्था की आखिरी सुरक्षा पंक्ति का रहा है। लाल मिर्च खाकर 'विरोध-विरोध' की रट लगाने वाले इन संसदीय तोतों की भूमिका ज़्यादा से ज़्यादा कांग्रेस या किसी 'तीसरे मोर्चे' की पूँछ में कंधी करने की होती है। जिन राज्यों में ये सत्ता में पहुँचे हैं, वहाँ इन्होंने भी मज़दूरों और किसानों पर वैसे ही जुल्म ढाये हैं जैसे कांग्रेस और भाजपा की सरकारें ढाती हैं। इनका अवसरवाद और ग़द्दारी आज किसी से छिपी नहीं है। सुधारवाद और

एनजीओपन्थ ने इस देश को पिछले तमाम दशकों में क्या दिया? पहले सर्वोदयी याचकों और भूदानियों ने जनता के आक्रोश पर ठण्डे पानी के छिड़काव का काम किया था, आज वही काम एनजीओपन्थी कर रहे हैं। लुब्बेलुबाब यह कि हम चुनावी जंजाल और सुधारवादी धोखे की असलियत को पिछले सात दशकों में पहचान चुके हैं। ऐसे में, हमारे पास एक ही रास्ता है - शहीदे-आज़म भगतसिंह का रास्ता! इंकलाब का रास्ता! मेहनतकश अवाम की इंकलाबी पार्टी खड़ी करने का रास्ता! इसके बिना न तो हम अपने रोज़मर्रा के हकों, मसलन, भोजन, रिहायश, रोज़गार आदि के लिए लड़ सकते हैं और न ही अपने अन्तिम लक्ष्य को पूरा कर सकते हैं, यानी कि समूची सत्ता मेहनतकश के हाथों सौंपने का लक्ष्य।

'लोकस्वराज्य अभियान' का लक्ष्य

'लोकस्वराज्य अभियान' का मक़सद इसी विचार को जन-जन तक पहुँचाना है। दोस्तो! अगर हम आज़ादी के समय ही शहीदे-आज़म भगतसिंह के बताये रास्ते को अपना पाते तो शायद आज देश की यह हालत न होती। हम एक बेहतर समाज में जी रहे होते। लेकिन एक सपने को हम आधी सदी से भी ज़्यादा समय तक टालते रहे हैं। अब इसे और ज़्यादा नहीं टाला जा सकता है। यह हमारी आने वाली पीढ़ियों के जीवन और भविष्य का पन्थ है।

— बिगुल मज़दूर दस्ता, नौजवान भारत सभा, दिशा छात्र संगठन, स्त्री मुक्ति लीग, स्त्री मज़दूर संगठन और अन्य जनसंगठनों की ओर से देशभर में चलाये जा रहे 'क्रान्तिकारी लोक स्वराज्य अभियान' द्वारा जारी पर्चा

40 प्रतिशत हैं बेरोज़गार, कौन है इसका ज़िम्मेदार?

भाजपा सरकार का 2 करोड़ प्रति वर्ष नयी नौकरियों के सृजन का वादा भी "रामराज्य" वाली संघी-भाजपाई सरकार के हर वादे की तरह झूठा निकला! खोदा पहाड़, निकला कौक़ोच! केन्द्रीय श्रम मन्त्री बण्डारू दत्तात्रेय ने 6 फ़रवरी 2017 को लोकसभा में बताया कि 2013-14 में बेरोज़गारी की दर 3.4 प्रतिशत थी जो 2015-16 में 3.7 प्रतिशत हो गयी। किन्तु यह सरकारी आँकड़ा बहुत ही भ्रामक है। इस आँकड़े को निकालने में यह मान लिया गया है कि यदि किसी व्यक्ति को एक वर्ष में केवल एक महीने काम मिलता है तो वो रोज़गारशुदा है! यानी कि साल के 11 महीने आप बेरोज़गार और भूखे रहे तो भी सरकार आपको रोज़गारशुदा मानेगी! इसी रपट में आगे बहुत शर्माते हुए पूँजीवादी सरकार के आँकड़ेबाज़ अर्थशास्त्रियों ने महज़ एक लाइन में बताया है कि बेरोज़गारी की वास्तविक दर तो दरअसल 40 प्रतिशत के करीब है!!

इस आँकड़े को निकालने में बेरोज़गारी की असली परिभाषा ली गयी है यानी कि अगर किसी व्यक्ति को साल में 12 महीने काम नहीं मिलता है तो वह बेरोज़गार है। इस परिभाषा के हिसाब से देश में 40 प्रतिशत लोगों को 12 महीने रोज़गार नहीं मिलता है! अन्य स्रोतों से भी यही स्पष्ट हो रहा है कि बेरोज़गारी की दर बहुत ज़्यादा है। आर्थिक सहकार एवं विकास संगठन (ओईसीडी) के आर्थिक सर्वेक्षण 2017 के हिसाब से भी 15-30 साल उम्र के 30 प्रतिशत भारतीय बेरोज़गार हैं। इसके अलावा 4 में से 3 परिवारों के पास कोई तनख्वाह कमाने वाला सदस्य नहीं है। करीब 77 प्रतिशत परिवारों के पास कोई नियमित तनख्वाह कमाने वाला सदस्य नहीं है और 67% से ज़्यादा लोगों की आय 10,000 रुपये प्रति माह से कम है। महिलाओं में बेरोज़गारी की दर 8.7 प्रतिशत है, जबकि पुरुषों में यह दर 4 प्रतिशत बतायी गयी है जो कि आदर्श भाजपाई "रामराज्य" के अनुरूप ही है!

नोटबन्दी के कारण लाखों लोग बेरोज़गार हो गये। इसकी सबसे बुरी मार असंगठित क्षेत्र में काम करने वाले मज़दूरों पर पड़ी। सबसे अधिक रोज़गार देने वाले सेक्टरों में से एक, निर्माण क्षेत्र में मन्दी और नोटबन्दी की मार से कई लाख मज़दूरों का काम छिन गया है। जीएसटी के कारण परेशानी झेल रहे उद्योग और व्यापार जगत में रोज़गार निर्माण की दर और गिर गयी। दूसरी ओर, बड़ी कम्पनियों में भी छँटनी शुरू हो गयी है। लार्सन एण्ड टुब्रो अपने 11% अर्थात 14 हजार कर्मचारियों को निकाल चुकी है। एचडीएफसी बैंक भी पिछली 2 तिमाहियों में 11 हजार कर्मचारियों को निकाल चुका है। टाटा मोटर्स ने भी छँटनी की है। फ़्लिपकार्ट, स्नैपडील जैसी ई-कॉमर्स कम्पनियों से लेकर कॉग्निजेंट, इनफ़ोसिस, विप्रो, आदि बड़ी आईटी कम्पनियों में छँटनी शुरू हो चुकी है। उधर मोदी सरकार खुद सरकारी क्षेत्र में जमकर छँटनी-तालाबन्दी करके कांग्रेसी सरकारों

की विनाशकारी नीतियों को तेज़ी से आगे बढ़ा रही है जिससे बेरोज़गारी की समस्या और भयानक हो गयी है। सरकारी नौकरियों में भर्ती पिछले 3 साल में 89% घटी है। भर्ती न करने की वजह से ख़ाली पड़े 2 लाख पदों को मोदी सरकार ने समाप्त कर दिया। रेलवे में 20 हजार पद एक झटके में समाप्त कर दिये गये। अन्य सार्वजनिक इकाइयों की भी यही स्थिति है। सरकारी बैंकों का आपस में विलय करके हजारों कर्मचारियों को निकाला जा रहा है। साथ ही वर्तमान कर्मचारियों को भी स्वैच्छिक (या ज़बरदस्ती) रिटायरमेंट का प्रस्ताव दिया जा रहा है। हर विभाग और दफ़्तर में ज़्यादा से ज़्यादा काम ठेके पर कराये जा रहे हैं ताकि स्थायी कर्मचारियों को धीरे-धीरे ठिकाने लगाया जा सके।

इस प्रकार सरकारी व निजी क्षेत्र दोनों जगह हालत बहुत खराब है और बेरोज़गारी की समस्या विकराल रूप धारण कर चुकी है। निजी सम्पत्ति और मुनाफ़े पर टिकी पूँजीवादी व्यवस्था में

इस समस्या का कोई समाधान सम्भव नहीं है क्योंकि पूँजीवाद में पूँजीपति वर्ग जनता के लिए नहीं, अपनी तिजोरी भरने के लिए उत्पादन करता है। इसलिए पूँजीवाद में बेरोज़गारी बनी रहती है। बेरोज़गारों की फ़ौज हर समय बनाये रखना पूँजीवाद के हित में होता है क्योंकि इससे मालिकों को मनमानी मज़दूरी पर लोगों को रखने की छूट मिल जाती है। ये समस्या तभी खत्म की जा सकती है जब सामूहिक सम्पत्ति पर टिकी समाजवादी व्यवस्था का निर्माण किया जाये जहाँ उत्पादन निजी मुनाफ़े के लिए नहीं हो, बल्कि मानव समाज की ज़रूरतें पूरी करने के लिए हो। तभी रोज़गार-विहीन विकास के पूँजीवादी सिद्धान्त को धता बताकर हर हाथ को काम और हर व्यक्ति का सम्मानजनक जीवन का अधिकार सुनिश्चित किया जा सकेगा।

— मुनीश मैन्दोला

राष्ट्रीय परीक्षा एनईईटी की वेदी पर एक मज़दूर की बेटी की बलि!

पूँजीवादी व्यवस्था में सभी विद्यार्थियों के लिए समान अवसर की बात एक छलावा है

— पराग वर्मा

मौजूदा पूँजीवादी समाज में अधिकांश लोगों की ये धारणा होती है कि किसी को जीवन में जो कुछ हासिल होता है चाहे वो उच्च पढ़ाई के लिए किसी कॉलेज में दाखिला हो, नौकरी हो या फिर पदोन्नति हो, वह पूरी तरह योग्यता/मेरिट के आधार पर न्यायोचित तरीके से होता है। मगर तथाकथित योग्यता/मेरिट पर आधारित समाज के वर्गीकरण की इस व्यवस्था की सच्चाई क्या है, इसका अहसास यह व्यवस्था हमें बार-बार कराती रहती है। ऐसी ही एक घटना पिछले दिनों फिर हुई।

तमिलनाडु के अरियालुर ज़िले की 17 वर्षीय अनीता एक दलित दिहाड़ी मज़दूर की बेटी थी, जिसकी माँ का देहान्त आज से लगभग 10 साल पहले ही हो गया था। अनीता की दसवीं तक की पढ़ाई एक सहायता प्राप्त स्कूल से हुई थी और 12वीं की पढ़ाई के लिए उसे फ़ीस में कुछ छूट देकर पढ़ने की इजाजत मिली थी। पढ़ाई में काफ़ी रुचि रखने वाली अनीता की इच्छा थी कि वो डॉक्टर बने और समाज की सेवा करे। इसके लिए उसने जीतोड़ मेहनत करके 12वीं की परीक्षा में 1200 में से 1176 अंक लेकर तमिलनाडु में पहला स्थान हासिल किया। उसने मेडिसिन के लिए कट ऑफ़ 196.75 अंक भी स्कोर किये। अनीता को पूरी उम्मीद थी कि इन अंकों से उसे किसी मेडिकल कॉलेज में दाखिला ज़रूर मिल जायेगा। लेकिन वर्ष 2016 में अचानक नियमों में बदलाव कर दिये गये और मेडिकल की पढ़ाई में देशव्यापी समानता लाने के लिए, सभी दाखिले केवल एनईईटी (नीट) परीक्षा के माध्यम से ही होंगे, ऐसा नियम बना दिया गया। इस अचानक बदलाव के कारण अनीता नीट की परीक्षा में 700 में से केवल 86 अंक ही अर्जित कर पायीं और एक ही झटके में उसका डॉक्टर बनने का सपना टूट गया। इस सदमे को वह बर्दाश्त नहीं कर सकी और पिछले एक सितम्बर को उसने आत्महत्या कर ली।

इस तरह की प्रतियोगी परीक्षाओं की ढेरों कोचिंग कक्षाएँ चलती हैं और अमीर घरों के बच्चे उनमें से परीक्षा की पूरी ट्रेनिंग लेकर निकलते हैं, जिससे उनके लिए परीक्षा में हुए बदलाव के हिसाब से तैयारी कर लेना ज़्यादा मुश्किल नहीं होता, लेकिन अनीता जैसे मज़दूरों के बच्चे तो ऐसी महँगी कोचिंग नहीं कर सकते और उनके लिए इस तरह के बदलाव के बाद परीक्षा में पास होना बेहद कठिन हो जाता है। भारत के विभिन्न राज्यों में स्कूली शिक्षा के अलग-अलग पाठ्यक्रम अलग-अलग भाषाओं के माध्यम से विद्यार्थियों को उपलब्ध होते हैं। लेकिन नीट अभी केवल अंग्रेज़ी और हिन्दी भाषा में आयोजित की जाती है। जो छात्र/छात्रा अंग्रेज़ी या हिन्दी माध्यम के अलावा किसी अन्य भाषा में स्कूली पढ़ाई पूरी करते हैं, उनके लिए इस तरह प्रवेश

परीक्षा में अचानक परिवर्तन बहुत मुश्किलें पैदा कर देता है। पाठ्यक्रमों में विविधता के कारण, जिन्होंने माध्यमिक शिक्षा बोर्ड (सीबीएसई) के माध्यम से प्री-यूनिवर्सिटी शिक्षा पूरी की है, उनके मुकाबले प्रदेश पाठ्यक्रम से प्री-यूनिवर्सिटी शिक्षा पूरी करने वाले विद्यार्थी अपने ही समकक्षों की तुलना में परीक्षा के हिसाब से कमजोर रह जाते हैं। विशेष रूप से अनीता जैसे ग्रामीण ग़रीब छात्रों और उम्मीदवारों के लिए तो ये परीक्षाएँ और कठिन हो जाती हैं, जब भाषा के साथ-साथ पाठ्यक्रम में भी बदलाव होता है और परीक्षा की तैयारी के लिए समय और साधन दोनों ही उपलब्ध नहीं रहते।

राष्ट्रीय स्तर पर आयोजित की जाने वाली किसी भी परीक्षा में देश के सभी छात्रों को समान अवसर मिलना चाहिए, परन्तु समान अवसर देने का हवाला देने वाली ये परीक्षाएँ इस ज़मीनी सच्चाई को ही नकार देती हैं कि अवसर तो सभी बराबर का हो सकता है जब हर छात्र के हालात में बराबरी हो। जब पूरे देश में शिक्षा का बाज़ार लगा हुआ हो, तब तो शिक्षा वही ख़रीद सकता है जिसके पास पैसे हो। जो छात्र अंग्रेज़ी माध्यम में नहीं पढ़ पाते और प्रवेश परीक्षाओं की महँगी कोचिंग से वंचित रहते हैं, उनके लिए ये राष्ट्रीय परीक्षाएँ समान अवसर वाली बिल्कुल नहीं होतीं। इन परीक्षाओं में शहरी अमीर तबक़े से आने वाले और अंग्रेज़ी माध्यम में शिक्षा पाये एक खास वर्ग को ही विशेष अवसर प्राप्त होता है। गाँव और शहरों में बसे करोड़ों ग़रीब मेहनतकश मज़दूरों के बहुत से बच्चे शिक्षा के इस बाज़ार में भी किसी तरह अपने सपनों को सँजोये रखते हैं, पर ना तो कोई नीति और ना ही कोई सरकार उनकी मदद को आती है और ना ही ग़ैर-बराबरी पर आधारित इस व्यवस्था में उनकी किसी अदालत में कोई सुनवाई होती है।

अनीता के साथ भी यही हुआ। उसने नीट के खिलाफ़ आवाज़ उठायी और अपने जैसे कई छात्रों के साथ हो रही नाइंसाफ़ी को लेकर सुप्रीम कोर्ट तक लड़ाई लड़ी, पर इस न्यायव्यवस्था में उसका कुछ नतीजा नहीं निकला और अन्ततः अनीता ने हताश होकर आत्महत्या कर ली। नीट जैसी राष्ट्रीय परीक्षाएँ अवसरों को समान नहीं बनातीं, बल्कि अनीता जैसे अनेकों बच्चों को प्रताड़ित करती हैं। अख़बारों से पता चलता है कि इस तरह सैकड़ों बच्चे व्यवस्था के हाथों लाचार होकर आत्महत्या कर लेते हैं। परीक्षाएँ तनाव, अवसाद, आत्मविश्वासहीनता, नाकामी का भय और नजाने कैसी-कैसी मानसिक बीमारियों को अपने साथ लेकर आती हैं। हालात ऐसे हैं कि छात्र-छात्राओं को परीक्षा काल में गुरुजनों से ज़्यादा मनोचिकित्सकों की आवश्यकता पड़ रही है। हर साल परीक्षाओं व परिणाम के समय कितने ही छात्र-छात्राओं की आत्महत्या सामने आती हैं। निश्चय ही

ऐसी परीक्षा प्रणाली जो छात्र-छात्राओं की जान ले ले, अमानवीय ही कही जायेगी। दरअसल, यह परीक्षा प्रणाली अपनी शिक्षा व्यवस्था के ही अनुरूप है।

शिक्षा एक बड़ा व्यापार बन गया है। बेहतर शिक्षा के लिए एडमिशन के नाम पर मोटी रकम वसूली जा रही है। डोनेशन देकर सीट की ख़रीद-फ़रोख़्त का कारोबार भी ख़ूब फल-फूल रहा है। ग़रीब माँ-बाप चाहकर भी अपने बच्चों का दाखिला अच्छे स्कूलों में नहीं करा सकते। समान अधिकार की बात हमारी सरकारें करती हैं और देश में शिक्षा अधिकार अधिनियम भी लागू किया है, परन्तु इन सबके बावजूद बेहतर शिक्षा का लाभ आम ग़रीब लोगों को नहीं मिल रहा है, क्योंकि देश में शिक्षा व्यवस्था का लगभग पूरी तरह निजीकरण हो गया है। शिक्षा हमारे यहाँ एक उद्योग के रूप में फल-फूल रहा है जिस पर सरकारों का कोई नियन्त्रण नहीं है। शिक्षण संस्थानों में प्रबन्धकों की ही मनमानी चल रही है। निजी प्रबन्धकीय स्कूलों में फ़ीस के अलावा तमाम ग़ैर-ज़रूरी शुल्क लिये जाते हैं, जिसका शिक्षा से कोई ताल्लुक नहीं रहता है। तकनीकी और मेडिकल शिक्षा की हालत यह है कि कुछ ग़रीब परिवारों के बच्चे पैसे के अभाव में इस तरह की शिक्षा हासिल करने में नाकाम रहते हैं और कुछ इसे हासिल करने के लिए भारी कर्ज़ में डूब जाते हैं, जिसकी भरपाई करना भी मुश्किल हो जाता है, क्योंकि रोज़गार के अवसर भी दिन-प्रतिदिन कम होते जा रहे हैं। राजनेताओं व नौकरशाहों द्वारा सरकारी स्तर पर संचालित प्राथमिक एवं कॉलेज की शिक्षा में गिरावट लायी गयी है जिसके चलते शिक्षा पैसेवालों के लिए एक बड़ा व्यापार साबित हो रही है। राजनेता और नौकरशाह अपने बच्चों को कभी सरकारी स्कूलों व कॉलेजों में नहीं पढ़ाते हैं और इनमें से बहुतों का निवेश भी प्राइवेट संस्थाओं में रहता है। स्कूल से लेकर कॉलेज की शिक्षा तक में सफ़ेशोश और नौकरशाहों का जाल फैला है। सरकारी स्कूलों में बच्चों के बैठने की, किताबों की और यहाँ तक कि शौचालय की सुविधा तक का अभाव है। यह समय की माँग है जब शिक्षा के इस पूँजीवादी चरित्र को समझा जाये। क्यों यह शिक्षा व्यवस्था एक वर्ग के हित में है और दूसरे वर्ग के लिए गुलामी का रास्ता है?

यह शिक्षा प्रणाली व्यक्ति की असीमित क्षमताओं के विकास के लिए नहीं बनी है बल्कि पूँजीपति वर्ग की ज़रूरत के लिए कामगार तैयार करने के लिए निर्मित की गयी है। अकारण नहीं है कि शिक्षा मंत्रालय का नाम बदलकर "मानव संसाधन" कर दिया गया है। पूँजीवाद में जिस तरह भौतिक प्राकृतिक संसाधनों पर पूँजीपति वर्ग का क़ब्ज़ा होता है, ठीक उसी तरह बौद्धिक संसाधनों जैसे शिक्षा पर भी पूँजीपति वर्ग का क़ब्ज़ा होता है। मौजूदा पूँजीवादी समाज में शिक्षा, मज़दूर-मेहनतकशों की

लूट व शोषण को जारी रखने का एक साधन है। यह शिक्षा हर स्तर पर अच्छे निष्ठावान सेवक पैदा करने का काम करती है। इसी शिक्षा से शिक्षित हुए कुछ व्यक्ति अमीर वर्ग की नुमाइन्दगी करते हैं और इसी शिक्षा से दूर किये गये लोगों को गुलामी करनी पड़ती है। यही शिक्षा शोषण-उत्पीड़न को न सिर्फ़ ढँकने का काम करती है, बल्कि इस सब को जायज़ भी ठहराती है। जब शिक्षा, पूँजीपति वर्ग के हाथ में मेहनतकशों के खिलाफ़ एक अस्त्र हो तो उसकी परीक्षा प्रणाली का भी घोर उत्पीड़नकारी होना लाज़िमी है। परीक्षा प्रणाली के जरिये पूँजीपति वर्ग द्वारा मेहनतकशों व उनके बच्चों पर किये जाने वाले उत्पीड़न का व्यवहार तब साफ़तौर पर दिखायी देने लगता है, जब ग़रीब के बच्चों को पढ़ाई के अवसर तक प्राप्त नहीं होते और वो निराश होके आत्महत्या तक पहुँच जाते हैं। आमतौर पर ये परीक्षाएँ व्यवहार से इतनी कटी हुई होती हैं कि ये वास्तविक ज्ञान का मूल्यांकन करने की जगह लोगों के रटने की क्षमता का माप होती हैं। ऐसी ही परीक्षाओं को इतना ऊँचा स्तर दे दिया जाता है कि उसमें पास होने वाला व्यक्ति ही सबसे ज़्यादा योग्य है और ज्ञानी है। अवसरों में असमानता के कारण या किसी भी कारणवश यदि कोई बच्चा उसमें उत्तीर्ण नहीं हो पाता तो उसे इस तरह असफल, अयोग्य व नकारा मान लिया जाता है कि उस परीक्षा का परिणाम जीवन-भर के लिए उसकी दिशा तय कर देता है।

किसी छात्र की योग्यता व ज्ञान को आँकने में पूँजीवादी शिक्षा व परीक्षा प्रणाली बिल्कुल भी कारगर नहीं है। तीन घण्टों के भीतर एक लिखित परीक्षा द्वारा किसी की योग्यता की जाँच नहीं की जा सकती। मगर पूँजीपति वर्ग और उसकी नुमाइन्दगी करने वाली सरकारों का यह लक्ष्य नहीं है कि वे सबको शिक्षित करें। उनको मौजूदा व्यवस्था को सुचारु रूप से चलाने के लिए भिन्न-भिन्न कौशल व योग्यता के लोग चाहिए होते हैं। उनको अपनी ज़रूरत के लिए सीमित संख्या में ही ऐसे लोग चाहिए होते हैं, इसलिए सबको शिक्षित करना, उच्च शिक्षा व तकनीकी तौर पर शिक्षित करना और वह भी व्यावहारिक व वैज्ञानिक सोच के साथ, यह पूँजीवादी व्यवस्था का लक्ष्य ही नहीं होता। आवश्यकतानुसार लोगों को परीक्षाओं में सफल कर पूँजीवादी व्यवस्था हेतु कलपुर्जों के रूप में इस्तेमाल में लाया जाता है और शेष आबादी को असफल कर उनको उनके नारकीय हालात पर छोड़ दिया जाता है। परीक्षाएँ इसी छँटनी को बेहद आसान तरीके से अंजाम देती हैं। आगे की शिक्षा से वंचित होने या रोज़गार न पा पाने से जो गुस्सा व क्षोभ व्यवस्था के खिलाफ़ पैदा होता, परीक्षाएँ इससे पूँजीवादी व्यवस्था को बचाती हैं और परीक्षा में जब कोई असफल होता है, तो उसकी जिम्मेदारी आसानी से उस पर ही डाल दी जाती है। असफल होने वाला इस बात

से सहमत हो जाता है कि उसकी अपनी कमी से ही वह असफल हुआ है और अगर वह और अधिक मेहनत करता तो ज़रूर सफल हो जाता। वह मान लेता है कि वह इसके योग्य ही नहीं है, जैसे कि बाकी सफल व्यक्ति हैं। पूँजीवादी शिक्षा व परीक्षा प्रणाली मज़दूरों, किसानों-मेहनतकशों के बच्चों के साथ क्रूरता के साथ पेश आती है। परीक्षा प्रणाली का सबसे ज़हरीला दंश इन्हीं वर्ग के बच्चों को सहना होता है। अपनी वर्गीय स्थिति के कारण परीक्षाओं में सबसे ज़्यादा यही बच्चे फेल कर दिये जाते हैं और कम उम्र में ही पूँजीवादी श्रम की लूट में अपने को खटाने पर मजबूर कर दिये जाते हैं। लेकिन पूँजीपति वर्ग और उसके लिए आवश्यक विशेषज्ञों का प्रशिक्षण अलग ढंग से और अलग स्कूल-संस्थानों में होता है जिन्हें हम प्रतिष्ठित स्कूल-संस्थानों के रूप में जानते हैं।

अनीता जैसी होनहार विद्यार्थी की आत्महत्या से आहत हर ईसाफ़पसन्द व्यक्ति को व्यवस्था में मौजूद इस भेदभाव को अच्छी तरह समझने की कोशिश करना चाहिए, क्योंकि यह हार उस बच्ची की नहीं है जो केवल एक परीक्षा को पार नहीं कर पायीं, पर उन सबकी है जो इस व्यवस्था में मौजूद ग़ैर-बराबरी को ढँकते फिरते हैं। इस पूरे प्रकरण ने एक बार फिर पूरी व्यवस्था में व्याप्त वर्ग आधारित ग़ैर-बराबरी को उजागर कर दिया है। शिक्षा से ही समाज में बदलाव लाया जा सकता है, ऐसा कहने वाले ज्ञानियों के मुँह पर भी यह एक तमाचा है। जिस शिक्षा की वे वाहवाही करते हैं, वह तो प्राइवेट स्कूल/कॉलेज/कोचिंग इस्टिट्यूट द्वारा बिकाऊ बन चुकी है और इस देश की अधिकांशतः मेहनतकश जनता की पहुँच से बहुत दूर जा चुकी है।

दूसरे, इस शिक्षा के चरित्र में भी प्रगतिशीलता और जनवाद के तत्व तक मौजूद नहीं हैं, जिनके अभाव में यह एकदम खोखली है। ऐसे में अनीता जैसी समाज के बारे में सोचने वाली उनीस साल की लड़की की मृत्यु से एक ही प्रेरणा ली जानी चाहिए कि इस ग़ैर-बराबरी की व्यवस्था को उखाड़ फेंका जाये, जिसमें समस्त सुविधाओं युक्त शहर में, आर्थिक-सामाजिक शक्ति युक्त, जाति-धर्म के साधन-सम्पन्न परिवार में, विशिष्ट लिंग में जन्म लेने के विशेषाधिकारी को ही मेरिटधारी/योग्य कहा जाता है। पूँजीवादी व्यवस्था के अन्दर तो जहाँ अमीर और ग़रीब के बीच वर्ग आधारित खाई बढ़ती ही जानी है, वहाँ समान अवसरों की बात करना भी अपने आप में एक ढोंग है। पूँजीवादी व्यवस्था के भीतर शिक्षा के उत्पीड़नकारी चरित्र से मुक्ति नहीं मिल सकती। पूँजीवादी व्यवस्था का ख़ात्मा कर शिक्षा को उससे मुक्त कराना ज़रूरी है। यह काम सामाजिक क्रान्ति के बिना नहीं हो सकता। सभी को शिक्षा में समान अवसर केवल एक न्यायसंगत व्यवस्था में ही मिल सकते हैं।

पंचकूला हिंसा और राम रहीम परिघटना : एक विश्लेषण

— कविता कृष्णपल्लवी

बलात्कारी और हत्यारे बाबा राम रहीम की गिरफ्तारी और सजा के समय पंचकूला तथा हरियाणा व पंजाब के कई शहरों में हुई हिंसा और राम रहीम परिघटना की सच्चाई को समझने के लिए पंजाब-हरियाणा में डेरों की राजनीति के इतिहास और वर्तमान को समझना ज़रूरी है।

पंजाब में डेरों की राजनीति का एक लम्बा इतिहास रहा है। यून तो पंजाब में डेरों का इतिहास काफ़ी पुराना रहा है, लेकिन आजादी के बाद के वर्षों में सिख धर्म के गुरुद्वारों पर शिरोमणि गुरुद्वारा प्रबन्धक कमेटी के माध्यम से जाट सिखों के खुशहाल मालिक किसान वर्ग का राजनीतिक-सामाजिक वर्चस्व मजबूत होने के बाद और उनके अकाली दल की राजनीति का मुख्य सामाजिक अवलम्ब बनने के बाद अलग-अलग डेरे दलित और पिछड़ी जातियों की सिख और हिन्दू आबादी को एकजुट करने वाले केन्द्र बनते चले गये। यून तो पंजाब-हरियाणा में ऐसे कुल 9000 डेरे हैं। इनमें से कुछ के अनुयायी लाखों हैं तो कुछ के सैकड़ों में। इन डेरों में राधा स्वामी (ब्यास), सच्चा सौदा, निरंकारी, नामधारी, सतलोक आश्रम, दिव्य ज्योति जागरण संस्थान (नूरमहल), डेरा सन्त भनियारवाला, डेरा सचखण्ड (बल्लान), डेरा सन्त फुरीवाला, डेरा बाबा बुध दल, डेरा बेगोवाल नानकसर वाले आदि प्रमुख हैं। ये डेरे सिख गुरुओं के अतिरिक्त कबीर, रविदास आदि को भी महत्व देते हैं, दसवें गुरु को अन्तिम मानने की जगह जीवित गुरुओं की परम्परा को मानते रहे हैं तथा कबीर-रविदास से लेकर अपने जीवित गुरुओं तक की वाणी को गुरुग्रन्थ साहिब के बराबर महत्व देते रहे हैं। इसके चलते जाट सिखों के साथ इन डेरों का प्रायः टकराव होता रहा है। लेकिन इस धार्मिक टकराव की अन्तर्वस्तु अतीत में मुख्यतः जाट मालिक किसानों और भूमिहीन दलित और पिछड़ी जातियों के बीच के अन्तरविरोध में निहित थी। कालान्तर में पंजाब की इन दलित व पिछड़ी जातियों के बीच से भी एक खुशहाल मध्यवर्गीय तबक़ा पैदा हुआ जो सामाजिक-राजनीतिक दायरे में अपनी दखल बढ़ाने के लिए कोशिशें करने लगा। नतीजतन डेरों और जाट सिखों के वर्चस्व वाले गुरुद्वारों के बीच के टकराव का चरित्र बदल गया। ज़्यादातर डेरे अब दलितों-पिछड़ों के बीच से उभरे नये बुर्जुआ और निम्न बुर्जुआ वर्ग की राजनीतिक आकांक्षाओं के केन्द्र और नये 'पावर

सेण्टर' बन गये। धार्मिक भावनाओं के सहारे जहाँ कुलक जाट सिख गरीब जाट सिखों को अपने साथ जोड़ लिया करते थे, वहीं इसी हथकण्डे के सहारे दलित और पिछड़ी जातियों के बुर्जुआ और निम्न बुर्जुआ इन जातियों के गरीबों को अपने साथ जोड़ने में कामयाब हो जाते थे। इस तरह पंजाब में वर्गीय अन्तरविरोध जातिगत पहचान की धार्मिक राजनीति की विकृति-विरूपित चेतना के रूप में अभिव्यक्त होते रहे हैं।

पारम्परिक तौर पर पंजाब में जाट सिख मालिक किसानों का बहुलांश अकाली दल का सामाजिक आधार हुआ करता था और हिन्दू और सिख शहरी मध्य वर्ग के साथ गाँवों-शहरों की दलित एवं पिछड़ी जातियाँ मुख्यतः कांग्रेस का वोट बैंक हुआ करती थीं। मुख्यतः 1990 के दशक में बहुजन समाज पार्टी ने कांग्रेस के इस परम्परागत वोट बैंक में सीमित संध लगायी। गुरुद्वारों की राजनीति का मुकाबला कांग्रेस मुख्यतः डेरा प्रमुखों की सहायता से किया करती थी। फिर डेरों के सामाजिक आधार का लाभ उठाने के लिए अकाली दल के नेताओं ने भी अलग-अलग डेरों के साथ सौदेबाज़ी और जोड़-तोड़ की राजनीति शुरू की और डेरा प्रमुख भी इस सौदेबाज़ी में पीछे नहीं रहे। वस्तुतः यह जाट कुलकों और पूँजीपतियों के साथ दलित और पिछड़ी जातियों के पूँजीपतियों और उच्च मध्यवर्ग की सत्ता के लिए सौदेबाज़ी का ही एक रूप था।

डेरा सच्चा सौदा की स्थापना मस्ताना बलूचिस्तानी उर्फ़ बेपरवाह मस्ताना महाराज ने सिरसा में 1948 में की थी। 1960 में उनकी मृत्यु के बाद शाह सतनाम सिंह ने डेरा प्रमुख की गद्दी सम्हाली। उनकी मृत्यु दिसम्बर 1991 में हुई। इसके पहले ही, सितम्बर 1990 में गुरमीत राम रहीम सिंह डेरा के प्रमुख पद पर नियुक्त हो चुके थे। 1990 तक डेरा पंजाब और हरियाणा के दलित गरीबों और पिछड़ी जाति के गरीब कारोबारी आबादी के बीच काफ़ी लोकप्रिय हो चुका था और दोनों राज्यों की राजनीति में कांग्रेस के परोक्ष समर्थक की भूमिका निभाने लगा था, लेकिन राम रहीम ने डेरे की लोकप्रियता और राजनीतिक भूमिका को नयी ऊँचाइयों तक पहुँचाया। उन्होंने एक सर्वशक्तिमान मॉडर्न गुरु का अनूठा नया कल्ट निर्मित किया। सिरसा स्थित डेरा का मुख्यालय हथियारबन्द निजी सुरक्षाकर्मियों से लैस एक दुर्ग बन गया, जिसके भीतर भोग-विलास और ऐश्वर्य का एक स्वर्ग जगमगा रहा था। डेरे को और राम-रहीम

को लेकर बहुतेरे विवाद उठे और यौन उत्पीड़न के आरोप कई बार लगे लेकिन आतंक और राजनीतिक दबाव से उन सबको दबा दिया गया। ऐसे ही आरोपों में दो साध्वियों के साथ बलात्कार का आरोप था, जिसके लिए राम रहीम को कोर्ट ने दोषी ठहराया है। पत्रकार रामचन्द्र छत्रपति की हत्या का मुक़दमा अभी भी कोर्ट में लम्बित है।

राम रहीम की ख्याति और ग्लैमर बढ़ने के साथ ही दलित और पिछड़ी जातियों के बीच से उभरे मध्य वर्ग और अनिवासी भारतीयों के अतिरिक्त अब अन्य जातियों के छोटे-मोटे कारोबारी और बड़े व्यापारी भी बाबा के शिष्य हो गये और उनकी संख्या करोड़ के आसपास जा पहुँची। पंजाब, हरियाणा, दिल्ली, राजस्थान, हिमाचल और पश्चिमी उत्तर प्रदेश में डेरों निजी कारों के पीछे 'धन धन सतगुरु तेरा ही आसरा' लिखा हुआ दीखने लगा।

डेरा सच्चा सौदा पहले हरियाणा और पंजाब की राजनीति में कांग्रेस का पक्षधर माना जाता था। फिर कांग्रेस के पराभव के साथ ही इस डेरे ने अपने अन्य राजनीतिक विकल्पों की तलाश और सौदेबाज़ी भी शुरू कर दी। उल्लेखनीय है कि 2014 के लोकसभा चुनावों में डेरा सच्चा सौदा ने अकाली दल उम्मीदवार और सुखवीर सिंह बादल की पत्नी हरसिमरन कौर की जीत में अहम भूमिका निभायी थी। इन चुनावों के दौरान और हरियाणा के विधान सभा चुनावों के दौरान डेरा सच्चा सौदा ने पर्दे के पीछे से अपना पूरा समर्थन भाजपा को दिया था।

वर्गीय आधार पर यदि देखें तो डेरा सच्चा सौदा के भाजपा के साथ खड़े होने के मूल कारण वही हैं जो डेरों दलित पार्टियों और नेताओं तथा पिछड़ी जातियों के कुलकों-फ़ार्मरों की क्षेत्रीय पार्टियों के भाजपा के साथ गाँठ जोड़ने के हैं। यह दलित और पिछड़ी जातियों के मध्य वर्ग के बड़े हिस्से, कुलकों-फ़ार्मरों और पूँजीपतियों के फ़ासीवाद और नव-उदारवादी नीतियों के पक्ष में खड़े होने की परिघटना को ही दर्शाता है।

यदि संख्यात्मक रूप से देखें तो अभी भी राम रहीम के अधिकांश अनुयायी आम गरीब घरों के लोग - मेहनतकश और छोटे कारोबारी हैं जो ज़्यादातर दलित और अतिपिछड़ी जातियों से आते हैं। ऐसे घरों में थोड़ी-बहुत या पर्याप्त शिक्षा पाये हुए युवाओं की भारी फ़ौज तैयार हुई है, जो बेकार है और जिसे मौजूदा समय में अपना कोई भविष्य नहीं

दीखता। किसी क्रान्तिकारी विकल्प या क्रान्तिकारी प्रचार के प्रभाव के अभाव में युवाओं की यह भीड़ गहन अवसाद और दिशाहीन आक्रोश के गर्त में जा गिरती है। यही वह आबादी है जो फ़ासिस्टों के लोकंजक नारों, धार्मिक कट्टरपन्थी प्रचारों और अन्ध-राष्ट्रवादी जुनूनी चीख-पुकार के प्रभाव में सबसे आसानी से आ जाती है। यह आबादी किसी चमत्कारी गुरु या किसी फ़ासिस्ट जुनून के वशीभूत होकर सड़कों पर बर्बरता का ताण्डव रच सकती है। पंचकूला में सड़कों पर हिंसा का नंगनाच करने वाले 20 से 25 वर्ष के युवा इसी क्रिस्म की आबादी का हिस्सा थे, जो फ़ासिस्ट क्रिस्म की 'मिथ्या चेतना' के वशीभूत थे।

फ़ासीवाद वित्तीय पूँजी के धुर-प्रतिक्रियावादी चरित्र के वर्गीय हितों की नुमाइन्दगी करता है और साथ ही, वह मध्य वर्ग का धुर-प्रतिक्रियावादी सामाजिक आन्दोलन होता है। केवल मध्य वर्ग ही नहीं, उत्पादन की प्रक्रिया से बाहर धकेल दिये गये विमानवीकृत मजदूर और उजड़ते छोटे कारोबारी भी फ़ासिस्ट गुण्डों के गिरोहों में जा शामिल होते हैं, विशेषकर उनकी युवा पीढ़ी।

मक्सिम गोर्की ने 1920 के दशक में जो लिखा था वह आज भी प्रासंगिक और गौरतलब है : "जिन्होंने भी फ़ासिस्टों की परेडें देखी हैं, वे जानते हैं कि ये परेडें उन नौजवानों की होती हैं, जिनकी रीढ़ें रोग से सूजी हुई हैं, जिनके शरीरों पर चकत्ते पड़े हुए हैं और जो क्षयग्रस्त हैं, किन्तु जो बीमार आदमियों के उन्माद से जीवित रहना चाहते हैं और जो ऐसी किसी भी चीज़ को अपनाने के लिए तैयार रहते हैं जो उनके विषाक्त रक्त की सड़ांध को बिखरने की उन्हें आजादी देती है। इन हजारों कान्तिहीन और रक्तहीन चेहरों में स्वस्थ और चमकते चेहरे दूर से ही नज़र आ जाते हैं, क्योंकि उनकी संख्या इतनी नगण्य है। निश्चय ही ये थोड़े-से चमकते हुए चेहरे सर्वहारा वर्ग के सचेत दुश्मनों के हैं या दुस्साहसी टटपूँजियों के हैं जो कल तक सोशल डेमोक्रेट थे या छोटे व्यापारी थे और अब बड़े व्यापारी बनना चाहते हैं और जिनके वोट, जर्मनी के फ़ासिस्ट नेता मज़दूरों और किसानों के हिस्से की लकड़ी या आलू मुफ्त में देकर ख़रीद लेते हैं। होटलों के हेड-वेटर चाहते हैं कि वे अपने-अपने रेस्तराँ के मालिक हों, छोटे चोर चाहते हैं कि शासन बड़े चोरों को लूटमार और चोरी करने की जो छूट देता है वह उन्हें भी दी जाये - ऐसे लोगों

की पाँत में से फ़ासिज़्म अपने रंगरूट भरती करता है। फ़ासिस्टों की परेड एक साथ ही पूँजीवाद की शक्ति और उसकी कमज़ोरियों की परेड होती है।

हमें आँखें बन्द नहीं कर लेनी चाहिए: फ़ासिस्टों की जमात में मज़दूरों की संख्या भी कम नहीं है - ऐसे मज़दूरों की संख्या जो अभी तक क्रान्तिकारी सर्वहारा वर्ग की निर्णयकारी शक्ति से बेख़बर हैं। हमें अपनेआप से यह तथ्य भी नहीं छिपाना चाहिए कि संसार का उपजीवी - पूँजीवाद - आज भी काफ़ी मजबूत है, क्योंकि मज़दूर और किसान अभी भी उसके हाथ में हथियार और भोजन देते जाते हैं और उसे अपने रक्त और मांस से पौष्टिक तत्व प्रदान करते जाते हैं। इस विप्लवी ज़माने का यह सबसे क्षोभजनक और शर्मनाक तथ्य है। जिस विनम्रता से मज़दूर वर्ग अपने दुश्मन को खिलाता-पिलाता है, वह कितनी घृणास्पद है। सोशल डेमोक्रेट नेताओं ने उसके मन में यह विनम्रता पैदा की है। इन नेताओं के नाम हमेशा के लिए शर्म के पीले और चिपचिपे रंग से पुते रहेंगे। कितने आश्चर्य की बात है कि बेकार और भूखे लोग इन तथ्यों को बर्दाश्त करते चले जाते हैं, जैसे मिसाल के लिए, बाज़ार के भाव ऊँचे रखने के लिए बड़ी तादाद में अनाज को नष्ट करना, वह भी ऐसे समय में जब बेरोज़गारी बढ़ रही है, वेतन की दरें गिर रही हैं और मध्यवर्ग के लोगों तक की ख़रीदने की क्षमता घटती जा रही है।" (सर्वहारा वर्ग का मानववाद)

यह मानना एक भारी भूल होगी कि फ़ासिस्टों की क्रतारों की भरती व ट्रेनिंग केवल आरएसएस और उसके अनुषंगी संगठनों में ही होती है। जब असाध्य संकट से ग्रस्त समूचा पूँजीवादी समाज ही फ़ासीवाद के लिए उपजाऊ ज़मीन बन गया है तो फ़ासिस्ट दस्तों की डेरों फुटकल नर्सरियाँ भी अस्तित्व में आ गयी हैं। हिन्दू युवा वाहिनी, श्रीराम सेने जैसे सैकड़ों प्रशिक्षण केन्द्रों के अतिरिक्त राम रहीम के डेरे जैसी डेरों ऐसी फुटकल नर्सरियाँ हैं, जहाँ धार्मिक कट्टरपन्थी फ़ासीवाद की किसिम-किसिम की फ़सलें तैयार की जा रही हैं।

फ़ासीवाद के सरगना राम रहीम, आसाराम, रामपाल जैसे किसी भी बाबा का भरपूर इस्तेमाल करके उसे ठिकाने लगा देंगे और फिर ज़रूरत मुताबिक़ अपने लिए नये-नये बाबे ढूँढ़ लेंगे। और फिर मुख्य काम तो संघ की शाखाओं में हो ही रहा है।

मौजूदा दौर के किसान आन्दोलन और स्वामीनाथन आयोग की रिपोर्ट लागू करने का सवाल

(पेज 7 से आगे)

यानी अपनी मेहनत बेचकर ज़िन्दा रहने वाले मज़दूर वर्ग में शामिल होता रहता है। फिर कर्ज़ में दी जाने वाली राशि भी सरकारें जनता से ही निचोड़ती हैं।

अब आते हैं इस बात पर कि गरीब किसान फिर क्या करें? उपरोक्त बातचीत का मूल मक़सद इस बात

की तरफ़ केवल इशारा-भर करना था कि पूँजीवादी व्यवस्था में गरीब किसान आबादी का कोई भविष्य नहीं है, क्योंकि इस व्यवस्था में उजड़ना ही उनकी नियति है। यही सच है चाहे इस सच्चाई को हँसकर स्वीकार किया जाये चाहे फिर रोकर! धनी किसानों की माँगों को उठाने वाले नेतृत्व की तरफ़ ताकने

और उनकी माँगों के लिए लड़ने-मरने की बजाय इतिहास-बोध के साथ और दूरगामी तौर पर विचार किया जाना चाहिए और तर्क के आधार पर सही-गलत का फ़ैसला होना चाहिए। न केवल तात्कालिक तौर पर बल्कि दूरगामी तौर पर भी गरीब किसानों के हित केवल और केवल मज़दूर वर्ग के साथ जुड़े हुए

हैं। बेरोज़गारी, महँगाई, स्वास्थ्य, शिक्षा, बिजली, पानी जैसे मुद्दे ही असल में सही मुद्दे हैं जिन पर एकजुट होकर गरीब किसानों को मज़दूर वर्ग के साथ मिलकर व्यापक आन्दोलन खड़े करने चाहिए। दूरगामी तौर पर भी गरीब किसानों के हित समाजवाद के साथ यानी ऐसी व्यवस्था के साथ जुड़े हुए हैं, जोकि

निजी सम्पत्ति की बजाय सामूहिक सम्पत्ति की धारणा पर आधारित हो तथा जिसमें शोषण के सभी रूपों और ग़ैर-बराबरी के पूर्ण ख़ात्मे की तरफ़ समाज क्रम बढ़ाता है।

●●●

जनता को आपस में लड़ाने-बाँटने-बहकाने की साज़िशों से सावधान रहना होगा!

पहले ही बहुत कम राशि दी जाती थी, अब उसमें भी भारी कटौती कर दी गयी है। दूसरी ओर, बुलेट ट्रेन, गायों के लिए एंबुलेंस, मदरसों की वीडियोग्राफी और प्रधानमंत्री के जन्मदिन जैसे मदों पर बहाने के लिए सरकार के पास पैसे हैं।

मोदी के अच्छे दिनों के वायदे का बैलून जैसे-जैसे पिचककर नीचे उतरता जा रहा है, वैसे-वैसे हिन्दुत्व की राजनीति और साम्प्रदायिक तनाव का उन्मादी खेल जोर पकड़ता जा रहा है। इसे अभी और तेज़ किया जायेगा ताकि जन एकजुटता तोड़ी जा सके। अन्धराष्ट्रवादी जुनून पैदा करने पर भी पूरा जोर होगा। पाकिस्तान के साथ सीमित या व्यापक सीमा संघर्ष भी हो सकता है, क्योंकि जनक्रोश से आतंकित दोनों ही देशों के संकटग्रस्त शासक वर्गों को इससे राहत मिलेगी।

भाजपा सरकार ने जीएसटी बिल

लागूकर, वित्त विधेयक 139 पास कर व श्रम क़ानूनों पर हमले कर बड़ी पूँजी का भरोसा जीता है लेकिन परन्तु मन्दी के दौर में भाजपा सरकार की गमन नीतियाँ भी अम्बानी, अडानी, टाटा, बिड़ला की हवस को पूरा नहीं कर पा रही हैं और यही कारण है कि फासीवादी दमन चक्र अभी और बढ़ेगा। न सिर्फ़ भारत में बल्कि दुनिया भर में इन दक्षिणपन्थी फासीवादी ताकतों के उभार के मूल में गहराते आर्थिक संकट ही है। क्रान्तिकारी विकल्प की अनुपस्थिति ने इन ताकतों को और बढ़ने का मौका दिया है।

लुब्धेनुबाब यह कि मोदी सरकार की नीतियों ने उस ज्वालामुखी के दहाने की ओर भारतीय समाज के सरकते जाने की रफ़्तार को काफ़ी तेज़ कर दिया है, जिस ओर घिसटने की यात्रा गत लगभग तीन दशकों से जारी है।

भारतीय पूँजीवाद का आर्थिक संकट ढाँचागत है। यह पूरे सामाजिक ताने-बाने को छिन्न-भिन्न कर रहा है। बुर्जुआ जनवाद का राजनीतिक-संवैधानिक ढाँचा इसके दबाव से चरमरा रहा है। भारत को चीन और अमेरिका जैसा बनाने के सारे दावे हवा हो चुके हैं। आने वाले डेढ़ साल में भक्तजनों को मुँह छुपाने को कोई अँधेरा कोना भी नहीं नसीब होगा। (इसीलिए अब सारे वादे 2022 के किये जा रहे हैं।) फिर 'एण्टी-इन्कम्बेंसी' का लाभ उठाकर केन्द्र में चाहे कांग्रेस की सरकार आये या तीसरे मोर्चे की शिवजी की बारात और संसदीय वामपन्थी मदारियों की मिली-जुली जमात, उसे भी इन्हीं नवउदारवादी नीतियों को लागू करना होगा, क्योंकि कीन्सियाई नुस्खों की ओर वापसी अब सम्भव ही नहीं।

अगर हम आज ही हिटलर

के इन अनुयायियों की असलियत नहीं पहचानते और इनके खिलाफ़ आवाज़ नहीं उठाते तो कल बहुत देर हो जायेगी। हर ज़ुबान पर ताला लग जायेगा। देश में महँगाई, बेरोज़गारी और ग़रीबी का जो आलम है, ज़ाहिर है हममें से हर उस इंसान को कल अपने हक़ की आवाज़ उठानी पड़ेगी जो मुँह में चाँदी का चम्मच लेकर पैदा नहीं हुआ है। ऐसे में हर किसी को ये सरकार और उसके संरक्षण में काम करने वाली गुण्डा वाहिनियाँ "देशद्रोही" घोषित कर देंगी! हमें इनकी असलियत को जनता के सामने नंगा करना होगा। शहरों की कॉलोनीयों, बस्तियों से लेकर कैम्पसों और शैक्षणिक संस्थानों में हमें इन्हें बेनकाब करना होगा। गाँव-गाँव, कस्बे-कस्बे में इनकी पोल खोलनी होगी।

फासिस्टों के विरुद्ध धुआँधार प्रचार और इस संघर्ष में मेहनतकश

जनता के नौजवानों की भरती के साथ ही हमें यह भी ध्यान रखना होगा कि फासिस्ट शक्तियों ने आज राज्य सत्ता पर कब्ज़ा करने के साथ ही, समाज में विभिन्न रूपों में अपनी पैठ बना रखी है। इनसे मुकाबले के लिए हमें वैकल्पिक शिक्षा, प्रचार और संस्कृति का अपना तंत्र विकसित करना होगा, मजदूर वर्ग को राजनीतिक स्तर पर शिक्षित-संगठित करना होगा और मध्य वर्ग के रैडिकल तत्वों को उनके साथ खड़ा करना होगा। संगठित क्रान्तिकारी कैडर शक्ति की मदद से हमें भी अपनी खन्दकें खोदकर और बंकर बनाकर पूँजी और श्रम की ताकतों के बीच मोर्चा बाँधकर चलने वाले लम्बे वर्ग युद्ध में पूँजी के भाड़े के गुण्डे फासिस्टों से मोर्चा लेने की तैयारी करनी होगी।

'भारत में आय असमानता, 1922-2014 : ब्रिटिश राज से खरबपति राज?'

(पेज 1 से आगे)

आय बढ़कर 19 गुना हो गयी। अगर सबसे ऊपर के हजार-डेढ़ हजार अमीरों को ही देखें तो इनकी आमदनी 28 गुना से भी ज्यादा बढ़ गयी।

इसका नतीजा यह हुआ है कि नीचे की आधी जनसंख्या जिसका देश की कुल आमदनी में 1951 में 21% हिस्सा होता था, वह 1982 में आते-आते थोड़ा बढ़कर 24% हो गया था। लेकिन सरमायेदारपरस्त आर्थिक सुधारों के चलते इसके बाद इनकी हालत में तेज़ी से गिरावट आयी है। 2014 में इनका कुल आमदनी में भाग घटकर 15% के भी नीचे आ गया है। अगर इसके ऊपर के 40% मध्यम-निम्न मध्यम तबके को लें, तो 1951 में कुल आमदनी में इनका हिस्सा लगभग 43% होता था जो 1982 में थोड़ा बढ़कर 46% तक पहुँचा था अर्थात् ये अगर अमीर नहीं थे तो पूरी तरह विपन्न कंगाल भी नहीं थे। लेकिन नवउदारवादी आर्थिक नीतियों ने इनके ऊपर भी जबरदस्त चोट की है। इस तबके में बेरोज़गारी तेज़ी से बढ़ी है या ये सेवा क्षेत्र में कम तनख्वाह वाली असुरक्षित, अस्थायी नौकरियाँ करने के लिए मजबूर हो रहे हैं। नतीजा यह हुआ है कि 2014 तक आते-आते कुल राष्ट्रीय आय में इनका हिस्सा घटकर मात्र 29% रह गया अर्थात् पहले का सिर्फ़ दो तिहाई। नतीजा यह है कि महँगी शिक्षा और दिन-रात की कड़ी मेहनत द्वारा अमीर बनने के इनके सुनहरे सपने चकनाचूर हो रहे हैं और इस तबके के बहुत सारे लोग कंगाल होकर सर्वहारा बनने के क्रगार पर हैं।

लेकिन अगर शीर्ष के 10% लोगों अर्थात् अमीर और उच्च मध्यम तबके को लें तो उन्हें इन 'सुधार' वाली नीतियों से भारी फ़ायदा हुआ है। 1982 में कुल राष्ट्रीय आय में इनकी हिस्सेदारी सिर्फ़ 30% अर्थात् एक तिहाई से भी कम होती थी, जो अब 2014 में लगभग

दोगुनी होकर 56% पर पहुँच गयी है। इसमें से भी अगर शीर्ष के 1% को ही लें तो 1982 में इनका हिस्सा मात्र 6% होता था जो अब लगभग चार गुना अर्थात् 22% हो गया है। इसके असली मतलब को समझने के लिए यह भी जानना ज़रूरी है कि भारत में आय सम्बन्धी जानकारी 1922 में ब्रिटिश उपनिवेशवादी हुकूमत ने रखनी शुरू की थी। विदेशी गुलामी वाला वह शासन घोर शोषण और ग़ैर-बराबरी पर आधारित था और उस वक़्त होने वाली कुल सामाजिक आय का एक बड़ा हिस्सा विदेशी शासकों और उनके देशी दलालों - राजाओं-ज़मींदारों या पूँजीपतियों द्वारा हथिया लिया जाता था। मगर उस वक़्त भी असमानता की हालत यह थी कि 1930 के दशक में कुल आमदनी का लगभग 21% भाग ही शीर्ष के 1% अमीर लोगों के स्वामित्व में जाता था, जो अब 22% हो गया है। अर्थात् 2014 तक पहुँचते-पहुँचते इस देश की आम मेहनतकश मजदूर-ग़रीब किसान जनता ने भारी कुर्बानियाँ देकर आज़ादी और उसके बाद के संघर्ष में जो भी बेहतर की हक़ हासिल किये थे, उन्हें फिर से गँवा दिया है और आज हमारा समाज विदेशी गुलामी के वक़्त से भी अधिक भयंकर ग़ैर-बराबरी की खाई में जा पड़ा है।

इसी स्थिति को ऐसे भी समझ सकते हैं कि सबसे नीचे के 50% लोग 1951-80 के तीन दशकों में कुल आर्थिक वृद्धि का 28% भाग पा रहे थे लेकिन उसके बाद के 34 वर्षों (1980-2014) में आर्थिक वृद्धि में इनका हिस्सा घटकर मात्र 11% ही रह गया। इनके ऊपर वाले 40% पहले के 3 दशकों में कुल वृद्धि के 49% पर हक़ जमाये थे अर्थात् इनकी स्थिति तुलनात्मक रूप से थोड़ी बेहतर हो रही थी। किन्तु बाद के 34 सालों में इनका हिस्सा गिरकर सिर्फ़ 23% रह गया - आधे से भी कमा वहीं इनके ऊपर वाले

9% का भाग 23% से बढ़कर 37% हो गया और शीर्ष 1% का हिस्सा बढ़कर 29% हो गया। इस प्रकार नीचे के 90% को इस आर्थिक वृद्धि का मात्र एक तिहाई (34%) प्राप्त हो रहा है जबकि इसका दो तिहाई (66%) भाग मात्र शीर्ष के 10% तबके के लोगों द्वारा कब्ज़ा लिया जा रहा है।

इस अध्ययन के नतीजे पहले की उन खबरों को ही सही सिद्ध कर रहे हैं, जिनमें बताया गया था कि भारत दुनियाभर में सबसे अधिक असमानता वाले देशों में से एक है अर्थात् यहाँ अमीर और ग़रीब के बीच सम्पत्ति और आय के अन्तर की खाई बहुत गहरी-चौड़ी हो चुकी है। पिछले दिनों ही भारत में सम्पत्ति के वितरण पर क्रेडिट सुइस की रिपोर्ट भी आयी थी। इसमें बताया गया था कि 2016 में देश की कुल सम्पदा के 81% का मालिक सिर्फ़ 10% तबका है। इसमें से भी अगर शीर्ष के 1% को लें तो उनके पास ही देश की कुल सम्पदा का 58% है। वहीं नीचे की आधी अर्थात् 50% जनसंख्या को लें तो उनके पास कुल सम्पदा का मात्र 2% ही है अर्थात् कुछ नहीं। इनमें से भी अगर सबसे नीचे के 10% को लें तो ये लोग तो सम्पदा के मामले में नकारात्मक हैं अर्थात् सम्पत्ति कुछ नहीं क़र्ज़ का बोझा सिर पर है। इसी तरह बीच के 40% लोगों को देखें तो उनके पास कुल सम्पदा का मात्र 17% है। यहीं इस बात को भी समझ लेना ज़रूरी है कि यह असमानता बहुत तेज़ी से बढ़ी है। सिर्फ़ 6 वर्ष पहले ही 2010 में 1% तबके का कुल सम्पदा में हिस्सा मात्र 40% था अर्थात् मात्र 6 साल के दौरान सम्पत्ति में इनका हिस्सा 18% बढ़ गया। लेकिन यह कहाँ से आया? यह आया है नीचे के 90% की सम्पत्ति में से अर्थात् ऊपर से धन सम्पदा के ऊपर से रिसकर ग़रीब लोगों के जीवन में सुधार करने के भौंपू अर्थशास्त्रियों के दावों के ठीक विपरीत

ये आर्थिक 'सुधार' 90% जनता की सम्पत्ति और आय को छीनकर उसे शीर्ष 10% शासक वर्ग की तिजोरियों में पहुँचा रहे हैं।

इसी का नतीजा है कि आर्थिक 'सुधारों' के इन लगभग चार दशक में देश के अधिकांश श्रमिक, छोटे-सीमान्त किसानों और निम्न मध्य वर्ग के जीवन में किसी प्रकार की उन्नति होना तो दूर अगर बिल्कुल ही आधारभूत ज़रूरतों को भी देखें तो सब क्षेत्रों में गिरावट ही देखी जा सकती है। नेशनल न्यूट्रिशन मॉनिटरिंग ब्यूरो (जिसे अब मोदी सरकार ने बन्द ही कर दिया है) इन वर्षों में शहर और गाँव दोनों में लोगों के भोजन में अनाज, दूध, अण्डे, मांस, फल-सब्ज़ी, विटामिन, कैल्शियम, आदि हर प्रकार के पोषक तत्वों की उपलब्ध मात्रा में कमी आयी है, जिसके नतीजे में सभी लोगों खास तौर पर महिलाओं-बच्चों में कुपोषण, रक्ताल्पता, कम वज़न और क्रद न बढ़ने जैसे कुन्द वृद्धि के लक्षणों की तादाद बहुत तेज़ी से बढ़ी है। अधिकांश ग़रीब लोगों को दैनिक आवश्यकता के लायक न्यूनतम कैलोरी ऊर्जा भी उपलब्ध नहीं हो पा रही है। कुपोषण और रहने के अस्वच्छ-अस्वस्थ वातावरण की वज़ह से जो बीमारियाँ पहले के दशकों में कुछ हद तक कम हुई थीं, वे भी भयंकर रूप से वापस आ रही हैं। दवा और इलाज की कमी से बड़ी तादाद में रोगी तड़प-तड़प कर मृत्यु का भी शिकार हो रहे हैं। हाल के दिनों में बच्चों में बढ़ते कुपोषण और अस्पतालों में बच्चों की बड़ी तादाद में मौतों की खबरें बेवज़ह ही नहीं हैं।

इन आर्थिक नीतियों से 90% मेहनतकश और निम्न मध्यवर्गीय जनता की आय और सम्पत्ति कम होने की वज़ह है इन सुधारों के द्वारा श्रमिकों के अधिकारों पर हमला। देशी-विदेशी निजी पूँजी निवेश को बढ़ावा देने हेतु संगठित श्रमिकों द्वारा

हासिल काम के घण्टों और वेतन के लिए सामूहिक समझौते के अधिकारों में भारी कटौती हुई है। अधिकांश बड़े उद्योगों में स्थाई संगठित मजदूरों की छँटनी कर अस्थायी, ठेके वाले या अप्रेंटिस-प्रशिक्षु श्रमिकों से स्थाई मजदूरों के एक तिहाई से भी कम वेतन पर काम कराया जा रहा है। असंगठित उद्योगों और सबसे अधिक श्रमिकों को काम पर रखने वाले निर्माण और सेवा क्षेत्रों में तो सभी श्रमिक अस्थायी हैं और न्यूनतम वेतन या काम के घण्टों के कोई नियम ही लागू नहीं होते। कुल रोजगार के 90% से अधिक आज इन्हीं असंगठित क्षेत्रों में हैं, जहाँ 10 से 12 घण्टे काम के बाद 5 से 10 हजार रुपये महीने के ही मुश्किल से दिया जाता है। इस तरह अधिकांश श्रमिकों द्वारा उत्पादित सम्पदा मूल्य का अधिकांश मालिक पूँजीपतियों द्वारा हस्तगत किया जा रहा है, जिससे उनका मुनाफ़ा और सम्पत्ति लगातार बढ़ती जा रही है और श्रमिक विपन्नता का जीवन गुज़ारने को विवश हैं। कृषि के क्षेत्र में भी पिछले सालों में महँगाई के मुकाबले खेतिहर मजदूरों की वास्तविक मजदूरी में गिरावट हुई है। साथ ही धनी किसानों के साथ प्रतियोगिता में न टिक पाने से अधिकांश छोटे-सीमान्त किसान बरबाद होकर क़र्ज़ के बोझ से दब रहे हैं, आत्महत्याएँ कर रहे हैं या खेती छोड़कर शहरी मजदूरों की क़तारों में शामिल होकर दड़बों जैसी झोपड़पट्टियों में रहने के लिए चले जा रहे हैं। स्पष्ट है कि इन नवउदारवादी आर्थिक 'सुधारों' ने 90% मेहनतकश जनता को ज़िन्दगी में भारी तबाही और विपत्ति के सिवा कुछ नहीं दिया है जबकि उनकी आय और सम्पत्ति के बड़े हिस्से को छीनकर थोड़े से सरमायेदारों के हाथ में स्थानान्तरित कर दिया है जिसने समाज में भयंकर असमानता की खाई पैदा की है।

धनासेठों के चन्दे पर निर्भर पूँजीवादी संसदीय चुनाव - जिसका खायेगे उसका गायेगे

- नमिता

यह बात किसी से छुपी नहीं है कि सभी राजनीतिक दलों को पैसा ज्यादातर कारपोरेट घरानों से आता है, लेकिन कितना आता है, कोई पार्टी किसी-किसी व्यापारिक घराने की खास क्यों बन जाती है, ये चीज़ें कभी-कभी किसी रिपोर्ट से सामने आ जाती हैं।

आज देश की राजनीति में भ्रष्टाचार को सबसे बड़ा मुद्दा बनाकर उछाला जा रहा है। यह दीगर बात है कि भ्रष्टाचार पूँजीवाद की ही देन है। खैर, नरेन्द्र मोदी और भाजपा सरकार लगातार यह दावा कर रही है कि काले धन पर सर्जिकल स्ट्राइक करके उसे सरकारी खजाने में डाल चुके हैं और भ्रष्टाचार लगभग खत्म हो गया है। लेकिन हालत यह है कि सबसे ज्यादा भ्रष्टाचारी भाजपा में हैं। और सबसे ज्यादा चन्दा भी भाजपा को ही कारपोरेट घराने बिना पते बिना पैस की जानकारी के दे रहे हैं। इसका खुलासा चुनाव सुधार पर काम कर रही संस्था एडीआर की रिपोर्ट से सामने आया।

एसोसिएशन फ़ॉर डेमोक्रेटिक रिफ़ॉर्म (एडीआर) ने चन्दे का ब्यौरा जारी करते हुए कहा है कि बड़े

वाणिज्यिक और व्यापारिक कारोबारी घरानों से चन्दा पाने वाली पार्टियों में भाजपा सबसे ज्यादा दुलारी रही है। 2012-13 से लेकर 2015-16 तक पाँच राष्ट्रीय पार्टियों को कुल 956.77 करोड़ रुपये का चन्दा मिला। इसमें सबसे ज्यादा 705.81 करोड़ भाजपा को मिले यानी लगभग 92% प्रतिशत। भाजपा को चार साल में कुल 2987 कारपोरेटों ने चन्दा दिया।

रिपोर्ट के अनुसार भाजपा को 159.59 करोड़ यानी 99 प्रतिशत ऐसे चन्दे दिये गये हैं, जिनमें न तो पैस की जानकारी है और न ही पता। मतलब भाजपा को जिताने के लिए सारे क्रायदे-कानून ताक पर रख दिये गये। खास बात यह है कि भाजपा के कुल स्रोत का 92% चन्दा कारपोरेट घरानों से मिला, बाकी अन्य राजनीतिक दलों को भी कारपोरेट घरानों से चन्दा मिला, लेकिन उन्हें बहुत थोड़े में ही गुजारा करना पड़ा। इसमें एक ध्यान देने वाली बात यह भी है कि 2014 के लोकसभा चुनाव के दौरान भाजपा को सबसे ज्यादा 573.18 करोड़ रुपये चन्दा मिला। यहाँ यह बता देना ज़रूरी है कि यह वह चन्दा है जिसका हिसाब-

किताब जमा किया जाता है। इससे कई गुना रकम वह होती है जो परदे के पीछे से ली-दी जाती है। पिछले लोकसभा चुनाव में सभी का अनुमान था कि अकेले भाजपा ने करीब 10 हजार करोड़ रुपये खर्च किये।

वैश्विक मन्दी की मार भारत के पूँजीपतियों पर भी पड़ी है। इसलिए लगातार आर्थिक संकट और मन्दी से जूझ रही अर्थव्यवस्था को एक ऐसे तानाशाह की ज़रूरत थी जो पूँजीपतियों के मुनाफ़े की दर को बनाये रखने के लिए करों में छूट, कौड़ियों के भाव ज़मीन, लगभग मुफ्त बिजली-पानी, श्रम कानूनों में छूट और मजदूरों के आवाज़ उठाने पर उनका बर्बर दमन करने के लिए तैयार बैठा हो। और ऐसा व्यक्ति मोदी से बेहतर कौन हो सकता था। मोदी ने गुजरात में अपने शासन काल के दौरान यह साबित भी कर दिया था कि वह पूँजीपतियों, साम्राज्यवादियों के हित के लिए कुछ भी कर सकता है।

वैसे राजनीतिक दलों और कम्पनियों के बीच लेन-देन को लेकर अक्सर सवाल उठाये जाते हैं, इसीलिए उनके बीच लेन-देन में "पारदर्शिता"

लाने के लिए सरकार ने 2013 में कम्पनियों के द्वारा चुनावी ट्रस्ट बनाने का प्रावधान किया। ये चुनावी ट्रस्ट कम्पनियों के द्वारा जितना चन्दा पाते हैं, उसका 95 प्रतिशत राजनीतिक दलों को देते हैं। ऐसे ही एक ट्रस्ट 'सत्या इलेक्टोरल ट्रस्ट' को 2014-15 में कम्पनियों की तरफ़ से कुल 47.0015 करोड़ रुपये मिले, जिसमें से 45 करोड़ रुपये भाजपा को दिये गये, यानी 95.74 प्रतिशत और बाकी 2 करोड़ कांग्रेस को मिले। इससे समझा जा सकता है कि क्यों मोदी के सत्ता में आने के एक साल के अन्दर ही एक तरफ़ तो अडानी की सम्पत्ति में 48 फ़ीसदी बढ़ोतरी हो गयी, विजय माल्या जैसे बड़े-बड़े पूँजीपतियों के करोड़ों रुपये के कर्ज़ माफ़ कर दिये गये, सरकारी ज़मीन को औने-पौने दामों में बेच दिया गया, श्रम कानूनों को "लचीला" कर दिया गया और दूसरी तरफ़ आम जनता लगातार महँगाई झेल रही है, बेरोज़गारी लगातार बढ़ती जा रही है, मजदूरों से उनके रहे-सहे अधिकार छीने जा रहे हैं, उनके विरोध करने पर बर्बर दमन किया जा रहा है और देशद्रोही तक करार दिया जा रहा है।

एडीआर की रिपोर्ट से जो यह खुलासा हो पाया, वह भी आगे ना हो पाये, इसका इन्तज़ाम भाजपा सरकार कर रही है। मालूम हो कि कारपोरेट चन्दे से जुड़ी जानकारी हर वित्तीय वर्ष में चुनाव आयोग को देनी होती है। लेकिन अब ऐसे खुलासे आम लोगों तक नहीं पहुँच सकेंगे, क्योंकि एडीआर के संस्थापक प्रोफ़ेसर जगदीप छोकर ने बताया कि वित्त मन्त्री अरुण जेटली ने कानून पास करवा दिया है कि अब इलेक्टोरल बॉण्ड की खरीद करके कम्पनियों और राजनीतिक दलों को यह बताना ज़रूरी नहीं होगा कि किस कारपोरेट घराने ने किस पार्टी को कितना चन्दा दिया है और किसने कितना लिया है, यह पारदर्शिता के खिलाफ़ है।

पूँजीवादी चुनाव पूँजीपतियों के चन्दे पर निर्भर है। इन चुनावों में अक्सर वही पार्टी सत्ता में आती है, जिसे बड़े पूँजीपतियों का समर्थन प्राप्त हो और सत्ता में आने के बाद हर पार्टी पूँजीपतियों की सेवा में जुट जाती है। इस तरह से पूँजीवादी चुनाव इस कहावत को सच साबित कर देते हैं कि जिसका खायेगे उसका गायेगे।

बुलेट ट्रेन के लिए क़र्ज़ देने वाले जापान के भारत प्रेम की हकीकत क्या है?

- मुकेश असीम

अहमदाबाद में बुलेट ट्रेन की घोषणा करते हुए नरेन्द्र मोदी ने बड़े गर्व से कहा कि जापान ने 1,10,000 करोड़ रुपये का क़र्ज़ "लगभग मुफ़्त" दे दिया है। आइए ज़रा देखें कि इसकी असलियत क्या है।

चीन और जापान दोनों की अर्थव्यवस्था में मुद्रा की भयंकर अतिरिक्त नक़दी तरलता है। इसकी वजह से जापान की बैंकिंग व्यवस्था को तबाह हुए 20 साल हो चुके। 1990 के दशक में दुनिया के 10 सबसे बड़े बैंकों में 6-7 जापानी होते थे, आज कोई इनका नाम तक नहीं सुनता। जापानी सेण्ट्रल बैंक कई साल से नकारात्मक ब्याज दर पर चल रहा है - जमाराशि पर ब्याज देता नहीं लेता है! लोग किसी तरह कुछ खर्च करें तो माँग बढ़े, कहीं निवेश हो। जीडीपी में 20 साल में कोई वृद्धि नहीं, उसका शेयर बाज़ार का इण्डेक्स निक्केई 20 साल पहले के स्तर पर वापस जाने की ज़दोज़हद में है। *इस आर्थिक संकट से निकलने के लिए पूँजीवाद के अन्तिम हथियार अर्थात् सैन्यीकरण और युद्ध की और ले जाने की नीति उसके वर्तमान प्रधानमन्त्री शिंजो अबे की है जबकि पिछले युद्ध की बर्बादी के बाद जापान ने सेना लगभग समाप्त कर दी थी।

चीन ने भी बड़े पैमाने पर निर्यात से भारी विदेशी मुद्रा अर्जित की है। अभी उसके बैंक दुनिया के सबसे बड़े बैंक हैं। शहरों, सड़कों, रेल लाइनों, एयरपोर्टों में भारी निवेश के बाद भी यह अतिरिक्त तरलता उसकी अर्थव्यवस्था को संकट में डाल रही है। उसके बनाये कई

भारतीय रेल की इस समय जितनी बुरी हालत है, उतनी पहले कभी नहीं थी। आये दिन दुर्घटनाएँ हो रही हैं, गाड़ियाँ लगातार देरी से चल रही हैं, खानपान की व्यवस्था का बुरा हाल है। तरह-तरह की तिकड़मों से यात्रियों से पैसे वसूले जा रहे हैं। रेल मार्गों, रेल गाड़ियों, यात्रियों की संख्या में और माल ढुलाई की मात्रा में भारी बढ़ोतरी हुई है, लेकिन रेलकर्मियों की तादाद लगातार घटायी जा रही है। रेल पटरियों आदि के रखरखाव, सुरक्षा आदि से जुड़े हज़ारों पद खाली पड़े हैं। रेल सुरक्षा के आधुनिकीकरण के लिए, पटरियों के नवीनीकरण आदि के लिए योजनाएँ वर्षों से लम्बित हैं। मगर मोदी सरकार की प्राथमिकता है बुलेट ट्रेन! जिस रूट पर यह बुलेट ट्रेन चलेगी, यानी अहमदाबाद से मुम्बई, उसकी दूरी 524 किलोमीटर है और दिन-भर इस रूट पर दर्जनों ट्रेनें आती-जाती हैं। अहमदाबाद से मुम्बई की रोज़ 10 उड़ानें हैं। 6 लेन के एक्सप्रेसवे के साथ अहमदाबाद और मुम्बई स्वर्णिम चतुर्भुज राजमार्ग नेटवर्क से भी जुड़े हैं। कुछ घण्टों में कार या एसी बसें अहमदाबाद से मुम्बई पहुँच जाती हैं। इस बुलेट ट्रेन परियोजना की अनुमानित लागत 98,805 करोड़ रुपये है, जिसमें 2017 से 2023 के बीच सात साल के निर्माण काल के दौरान मूल्य और ब्याज वृद्धि भी शामिल है। इस क़र्ज़ का अधिकांश हिस्सा जापान इण्टरनेशनल कोऑपरेशन एजेंसी के ज़रिये कम ब्याज वाले लोन से आयेगा। एलवेटिड कॉरिडोर के लिए 10,000 करोड़ की अतिरिक्त लागत जोड़कर कुल क़र्ज़ एक लाख 10 हज़ार करोड़। यह राशि भारत के स्वास्थ्य बजट का तीन गुना है और देश में हर साल शिक्षा पर खर्च होने वाले बजट की रकम से भी ज्यादा है। — सम्पादक

शानदार शहरों में कोई रहने वाला नहीं है, इन्हें भूतिया शहर कहा जाता है। बुलेट ट्रेन खाली चल रही है। बैंक जापान की तरह बर्बादी के क़गार पर हैं।

अब ये दोनों प्रतियोगिता में हैं कि एशिया-अफ़्रीका के देशों को क़र्ज़ देकर वहाँ बड़े-बड़े प्रोजेक्ट लगायें, जिसमें इनके उद्योगों का सामान खरीद कर लगाया जाये। चीन ने श्रीलंका के हंबनटोटा में दो खरब डॉलर से एयरपोर्ट और बन्दरगाह बनाया। इसे अब दुनिया का सबसे बड़ा निर्जन इण्टरनेशनल एयरपोर्ट (बिल्कुल खाली, कोई उड़ान नहीं!) कहा जाता है। लेकिन चीन के उद्योगों के माल की बिक्री तो हो गयी और क़र्ज़ वापस आता रहेगा। इसी तरह चीन दुनिया में हज़ारों खरब डॉलर के प्रोजेक्ट लगाने के ऐलान कर रहा है, कितना होगा देखना बाकी है।



सुविधा की लागत आख़र नये टैक्स लगाकर पूरी की जायेगी।

लेकिन एक और पेंच है। जापान इस प्रोजेक्ट के बदले में बाकी एशिया-अफ़्रीका के

जापान भी इस दौड़ में है। अब 0.1% ब्याज उसके बैंकों के लिए कोई नुक़सान नहीं क्योंकि वहाँ तो और ब्याज देना पड़ता है पैसा रखने के लिए। साथ में कुल लागत के 30% के बराबर की खरीदारी बुलेट ट्रेन के लिए जापान से की जायेगी, उसमें 20-25% मार्जिन लगाइये तो उसका मुनाफ़ा सुनिश्चित है।

लेकिन विदेशी मुद्रा के क़र्ज़ में सिर्फ़ ब्याज नहीं होता बल्कि एक्सचेंज रेट रिस्क भी होता है जिसे हेज किया जाता है और उसका खर्च 5-6% आता है। तो जीरो बन गया 6%! रेलवे ने जो प्रीमियम रेट की गाड़ियाँ चलायी हैं उनमें जगह भर नहीं रही है तो बुलेट ट्रेन का क्या होगा? कुछ अमीर लोगों की

प्रोजेक्ट में भारतीय बैंकों को साझीदार बनाने का समझौता कर रहा है। भारतीय बैंक एक और तो डूबे क़र्ज़ों से निपट रहे हैं, साथ ही नये क़र्ज़ नहीं दे पा रहे हैं, क्योंकि अर्थव्यवस्था में माँग के अभाव में नया निवेश नहीं हो रहा है। उद्योगों को बैंक क़र्ज़ की दर पिछले साठ साल में निम्न स्तर पर है। इसी स्थिति में मोदी जी अपने नोटबन्दी नाम के मास्टर स्ट्रोक से बैंकों में भारी मात्रा में नक़दी जमा करा चुके हैं जिस पर उन्हें ब्याज से और हानि हो रही है। खुद रिज़र्व बैंक भारी घाटा उठा चुका है और जमा राशि पर ब्याज दें तेज़ी से कम की जा रही है। अब इस नक़दी को कहाँ लगाया

जाये?

भारत-जापान मिलकर चीन के वन बेल्ट वन रोड (OBOR) के मुकाबले का कुछ करने का प्रयत्न कर रहे हैं जैसे ईरान में चाबहार पोर्ट। पिछले दिनों दोनों ने मिलकर अहमदाबाद में अफ़्रीकी देशों का सम्मलेन भी किया था जिसमें बीसियों खरब डॉलर के क़र्ज़ और निवेश की घोषणाएँ हुईं।

इसी क्रिस्म के बड़े क़र्ज़ देने के लिए ही भारत के बैंकों को बड़ा बनाने की ज़रूरत है जिसके लिए सरकार 27 सरकारी बैंकों का विलय करके सिर्फ़ 5 या 6 बैंक बना देना चाहती है। पर समस्या यह है कि जापान और चीन ने यह सब तब किया था जब उनकी अर्थव्यवस्था एक हद तक उन्नत हो चुकी थी और उनके बैंक दुनिया में शिखर पर थे। भारतीय पूँजीपति इस रास्ते पर पहले ही चलने की कोशिश में है, क्योंकि विश्व पूँजीवादी अर्थव्यवस्था का गहन संकट उसे निर्यात के द्वारा जापान-चीन की तरह विकसित होने का भी मौक़ा नहीं दे पा रहा है। चीन-जापान के बैंकों में तो संकट इस सबके बाद आया था जबकि भारतीय बैंक तो पहले ही भारी विपत्ति में हैं, क्योंकि उनके 15% क़र्ज़ डूबने की स्थिति में हैं।

सबसे बड़ी बात यह कि भारत की ही तरह जिन देशों में ये भूतहा प्रोजेक्ट लगाये जायेंगे वे किस तरह इनका क़र्ज़ चुकायेंगे? अपनी जनता पर भारी तबाही और लूट से भी कैसे यह क़र्ज़ चुकाया जायेगा? तब क्या होगा? युद्ध या क्रान्तियाँ? यह शोषित जनता को चुनना होगा।

(लेखक बैंकिंग व राजनीतिक अर्थशास्त्र के विशेषज्ञ हैं)

तटीय आन्ध्र में जाति व्यवस्था के बर्बर रूप की बानगी

चार महीने से भी अधिक समय से जारी है माला जाति के 1200 दलितों का सामाजिक बहिष्कार

- आनन्द सिंह

राम नाथ कोविन्द के राष्ट्रपति बनने के बाद कारपोरेट मीडिया भारतीय गणतन्त्र के महिमामण्डन में व्यस्त था और नवनिर्वाचित राष्ट्रपति महोदय हमें बता रहे थे कि किस तरह से इस गणतन्त्र में उन्होंने एक मिट्टी के घर से राष्ट्रपति भवन तक की यात्रा तय करने का मौक़ा मिला। ठीक उसी समय इसी गणतन्त्र के एक कोने के एक गाँव में भूस्वामी उच्च जातियों द्वारा लगभग 400 दलित परिवारों के 1200 लोगों का बर्बर सामाजिक बहिष्कार जारी था, लेकिन कारपोरेट मीडिया ने भारतीय गणतन्त्र के इस धिनौने रूप को प्रमुखता नहीं दी, क्योंकि उससे गणतन्त्र के रंग में भंग पड़ जाता।

घटना तटीय आन्ध्र के पश्चिम गोदावरी ज़िले के गरगापरू नामक गाँव की है, जहाँ गत 5 मई से राजू नामक भूस्वामी जाति के नेतृत्व में गाँव की 13 अन्य जातियों ने साथ मिलकर माला नामक दलित जाति के लगभग 400 परिवारों का सामाजिक बहिष्कार कर रखा है। माला जाति के अधिकांश लोग खेतिहर मज़दूर हैं। इस सामाजिक बहिष्कार के बाद से गाँव का कोई भी भूस्वामी उन्हें खेत में काम नहीं दे रहा है। ट्रैक्टर और ऑटो रिक्शा ड्राइवर, घरेलू नौकर, मत्स्य पालन उद्योग में मज़दूर का काम करने वाले माला जाति के लोगों को भी काम से निकाल दिया गया है। माला लोगों के पशुओं को गाँव के साझा चारागाहों में चरने पर भी रोक लगा दी गयी। एक आरएमपी डॉक्टर ने इस बहिष्कार के दौरान माला लोगों का इलाज करने की ज़रूरत की तो उसकी क्लीनिक उच्च जाति के भूस्वामियों ने बन्द करवा दी। अगर गाँव का कोई व्यक्ति इस बहिष्कार को तोड़ने की कोशिश करता है तो उस पर भारी जुर्माना लगा दिया जाता है। माला जाति के जो कुछ लोग काश्तकार किसान हैं, उनसे भी भूस्वामियों ने ज़मीन वापस ले ली है। इस प्रकार इस गाँव के 400 माला परिवारों के सामने अस्तित्व का संकट उठ खड़ा हो गया है।

माला जाति के इस बर्बर सामाजिक बहिष्कार का तात्कालिक कारण इस जाति के कुछ युवाओं द्वारा 23 अप्रैल

की रात को गाँव के तालाब के किनारे महात्मा गाँधी, अल्लूरी सीताराम राजू और पोट्टी श्रीरामलू की मूर्तियों के बगल में अम्बेडकर की मूर्ति स्थापित करना था। गाँव की उच्च जातियों को दलितों की यह ज़रूरत फूटी आँखों नहीं भायी और उन्होंने उसी रात मूर्ति तालाब से दूर हटा दी। अगले दिन माला लोगों ने विरोध स्वरूप 'रास्ता रोको' का आयोजन किया, जिसके दबाव में इलाक़े के उप-कलेक्टर ने हस्तक्षेप करके मूर्ति को ग्राम पंचायत के ऑफिस में स्थानान्तरित कर दिया। इससे नाराज़ होकर गाँव के राजू भूस्वामियों ने 13 अन्य जातियों के साथ बैठक करके 5 मई 2017 से माला जाति के लोगों का बहिष्कार करने का फैसला किया। उस बैठक में यह भी तय किया गया कि यदि कोई व्यक्ति इस बहिष्कार का उल्लंघन करके माला लोगों का किसी भी प्रकार से सहयोग करता है तो उस पर 1000 रुपये का जुर्माना लगाया जायेगा। यही नहीं उच्च जातियों ने माला लोगों की बस्ती के पास सीसीटीवी कैमरा भी लगा दिया, ताकि इसकी निगरानी रखी जा सके कि कौन से लोग माला जाति से सम्पर्क कर रहे हैं।

कुछ स्थानीय दलित संगठनों व अन्य जन संगठनों द्वारा माला लोगों के इस बर्बर सामाजिक बहिष्कार के मुद्दे को उठाने के बाद प्रशासन हरकत में आया। राजू जाति के कुछ लोगों के खिलाफ़ आईपीसी की धारा 341 (सदोष प्रतिबन्ध), 506 r/w 34 (आपराधिक अभिन्नास) और अनुसूचित जाति/जनजाति (अत्याचार की रोकथाम) अधिनियम के तहत मुक़दमा दर्ज किया गया और कुछ गिरफ्तारियाँ भी हुईं। हालाँकि कुछ ही दिनों के भीतर उन्हें जमानत भी मिल गयीं और बहिष्कार बन्दस्तूर जारी है। इस बीच गाँव के एक दलित की एक दुर्घटना में मौत हो गयी। जिस तरीक़े से वह दुर्घटना घटी उसके आधार पर दलितों को शक है कि उसे उच्च जाति के लोगों ने ही मरवाया था। माला लोगों की बस्ती की पुलिस ने चारों ओर नाकेबन्दी कर दी है जिसकी वजह से उनकी आवाजाही पर बन्दिशें लग गयी हैं जो उनके सामाजिक बहिष्कार को और भी ज़्यादा पीड़ादायी बना रही हैं। गौरतलब है कि माला जाति

के अधिकांश लोगों ने आज़ादी के बाद ही ईसाई धर्म अपना लिया था। तमाम सामाजिक संस्थाओं की मदद से गाँव में स्थित लूथरवादी चर्च के पास ही माला लोगों का सामूहिक भोजनालय चल रहा है, क्योंकि माला लोगों के पास अपने घर में खाना बनाने लायक पैसे भी नहीं बचे हैं।

इस सामाजिक बहिष्कार के पीछे के कारणों को गहराई समझने के लिए तटीय आन्ध्र की जातिगत और वर्गीय संरचना को समझना ज़रूरी है। तटीय आन्ध्र में कम्मा, रेड्डी, कापु, और राजू आदि जातियों के लोग भूस्वामी हैं और माला व मादिगा दलित जातियाँ हैं जो अधिकांशतः भूमिहीन हैं व खेतों व लघु उद्योगों में मज़दूरी का काम करती हैं। आज़ादी के बाद हुए भूमि सुधारों का लाभ कम्मा, रेड्डी, कापु, और राजू जैसी किसान जातियों को मिला क्योंकि उन्हें ज़मीन का मालिकाना हक़ मिला। माला व मादिगा लोगों को या तो कोई ज़मीन मिली या फिर अगर मिली तो बहुत ही कम गुणवत्ता वाली व चारागाह की थोड़ी-बहुत ज़मीन मिली। हरित क्रान्ति का असर गोदावरी व कृष्णा नदियों के डेल्टा वाले तटीय आन्ध्र में भी हुआ जिसकी बदौलत भूस्वामी जातियों ने पूँजी-सघन खेती की शुरुआत की। इसकी वजह से खेती में बाज़ार में बेचने लायक बेशी उत्पाद पैदा हुआ जिसकी बदौलत ज़मीन, श्रम, और कृषि उत्पादों के बाज़ार अस्तित्व में आये और ग्रामीण अर्थव्यवस्था के जिंसीकरण में तेज़ी आयी। इस पूँजीवादी कृषि के फलस्वरूप गाँवों में किसानों के विभेदीकरण की प्रक्रिया ने तेज़ी पकड़ी। धनी किसान मुख्यतः कम्मा और रेड्डी और कुछ हद तक कापु और राजू जातियों से आये। इसके साथ ही साथ कास्तकारी की परिघटना में भी गिरावट देखने में आयी। कास्तकार भी खेतिहर मज़दूरों की जमात में शामिल होते गये। ये खेतिहर मज़दूर पहले के 'वतना' नामक सामन्ती व्यवस्था की तरह बन्धक नहीं बल्कि मुक्त थे और उन्हें केश में मज़दूरी मिलने की प्रवृत्ति ने भी जोर पकड़ा। इसके साथ ही साथ पुराने शिल्प और हैण्डलूम तबाह होने की प्रक्रिया में भी तेज़ी आयी जिसका सीधा असर माला और मादिगा जैसी दलित

जातियों पर पड़ा जिनके पास खेतिहर मज़दूर बनने के अलावा और कोई रास्ता नहीं बचा। कृषि में पूँजीवादी विकास का एक नतीजा गाँवों में जातिगत पारस्परिक निर्भरता पर आधारित पुरानी 'जजमानी' व्यवस्था के पतन के रूप में भी सामने आया जिसकी वजह से जातिगत सरपरस्ती वाली पुरानी व्यवस्था छिन्न-भिन्न हो गयी।

देश के अन्य हिस्सों की ही तरह तटीय आन्ध्र के गाँवों में भी पूँजीवादी खेती के विकास के बाद उभरी भूस्वामी कुलक जातियों ने भूमिहीन मज़दूरों पर प्रभुत्व कायम करने के लिए जातिगत गोलबन्दी का सहारा लिया। दूसरी ओर खासकर 1980 के दशक से दलितों के बीच भी अपने अधिकारों को लेकर जागरूकता आयी है और वे अपने आप को असर्ट कर रहे हैं। दलितों के साथ होने वाली बर्बर उत्पीड़न की घटनाओं को इसी पृष्ठभूमि में देखा जाना चाहिए।

1980 के दशक में आन्ध्र की कुलक जातियों विशेषकर कम्मा जाति के उभार का राजनीतिक प्रतिबिम्बन तेलुगू देशम पार्टी (टीडीपी) के अस्तित्व में आने और एनटी रामाराव के मुख्यमन्त्री बनने के रूप में सामने आया। आन्ध्र की कुलक जातियों 1980 के दशक से ही आन्ध्र में दलितों के खिलाफ़ होने वाली उत्पीड़न की घटनाओं में भी ज़बरदस्त वृद्धि भी देखने में आयी। करमचेडू, नीरूकोण्डा और चुण्डूर इलाक़ों में 80 के दशक में हुई दलित उत्पीड़न की बर्बर घटनाएँ आज भी लोगों के ज़ेहन में ताज़ा हैं।

1990 के दशक में नवउदारवादी नीतियों के लागू होने के बाद कम्मा, रेड्डी, राजू और कापु जैसी कुलक जातियों की आर्थिक शक्तिमत्ता में और इज़ाफ़ा हुआ क्योंकि इन जातियों से आने वाले धनी किसानों ने अपने मुनाफ़े का एक हिस्सा मत्स्य पालन, नारियल के विशाल फ़ार्म, राइस मिल और तटीय आन्ध्र के शहरी इलाक़ों में होटल-रेस्तराँ व सिनेमा जैसे उद्योगों में लगाना शुरू किया। बाद में इस पूँजीपति वर्ग ने अपने अधिशेष को हैदराबाद में आईटी व फ़ार्मा कम्पनियों में तथा रियल एस्टेट, शिक्षा व चिकित्सा के क्षेत्रों में निवेश करना शुरू किया। इस प्रकार आन्ध्र की राजनीति व अर्थव्यवस्था में इन जातियों का प्रभुत्व और सशक्त हुआ। वहीं दूसरी

ओर माला और मादिगा लोगों की हालत बद से बदतर होती गयी। इसकी वजह से कुलक जातियों द्वारा दलितों के खिलाफ़ की जाने वाली उत्पीड़न की घटनाओं में तेज़ी देखने को मिल रही है।

यह वो ऐतिहासिक पृष्ठभूमि है जिसमें तटीय आन्ध्र के पश्चिम गोदावरी ज़िले के गरगापरू गाँव में माला जाति के दलितों का सामाजिक बहिष्कार पिछले 4 महीने से जारी है। इस गाँव में राजू जाति के पास सबसे ज़्यादा ज़मीन है। राजूओं ने अपने दबदबे का इस्तेमाल करते हुए अन्य जातियों के लोगों को भी माला लोगों का बहिष्कार करने के लिए राजी कर लिया है। विडम्बना यह है कि माला जाति के लोगों का बहिष्कार करने वाली जातियों में मादिगा जाति भी शामिल हैं जो स्वयं एक दलित जाति है। अस्मितावादी राजनीति के असर की वजह से माला और मादिगा जातियों के बीच भी खुद को दूसरे से श्रेष्ठ समझने की भावना काम करती है। क्रान्तिकारी ताक़तों की कमजोरी की वजह से लोग वर्गीय आधार पर एकजुट व लामबन्द होने की बजाय जातिगत आधार पर लामबन्द हो रहे हैं, जिसका खामियाज़ा दलित जातियों को ही भुगतना पड़ रहा है।

इस प्रकार गरगापरू जैसी घटनाओं के सतह पर दिखने वाले जातीय संघर्ष को गहराई से पड़ताल करने पर हम पाते हैं कि यह पूँजीवादी उत्पादन सम्बन्धों के अन्तर्विरोधों की परिणति है जो भारत की विशेष परिस्थिति में जातीय संघर्षों के रूप में घटित होती हुई प्रतीत होती है। गाँवों में धनी पूँजीवादी किसानों को जाति के रूप में ऐतिहासिक रूप से चली आ रही एक ऐसी व्यवस्था मिली है जिसका इस्तेमाल वे ग्रामीण सर्वहारा को बाँटने में और उसको नियन्त्रित करने के लिए कर रहे हैं। ऐसे में कोई भी जाति-विरोधी आन्दोलन तब तक कारगर नहीं साबित हो सकता जब तक कि वह वर्ग पर आधारित न हो। वर्ग-आधारित जाति-विरोधी आन्दोलन ही देश के विभिन्न हिस्सों में जारी दलित-विरोधी अत्याचारों का प्रभावी प्रतिकार भी कर सकता है और जाति-उन्मूलन के दूरगामी लक्ष्य को भी हासिल कर सकता है।

इलाहाबाद में स्वास्थ्यकर्मियों का आन्दोलन

उदारीकरण-निजीकरण की नीतियों के ढाई दशक बीतने के बाद पूरे देश में कर्मचारियों, मज़दूरों और छात्रों पर इन नीतियों ने कहर बरपाना शुरू कर दिया है। अभी हाल ही में इलाहाबाद में स्वास्थ्य कर्मियों ने एक दिवसीय हड़ताल करके मुख्य चिकित्सा अधिकारी का घेराव किया। यह हड़ताल अधिकारियों के भ्रष्टाचार, कर्मचारियों की कमी से बढ़ते वर्क लोड, बिना किसी कारण के वेतन में कटौती, लम्बे समय से भत्तों आदि का भुगतान न होने जैसे मुद्दों को लेकर थी। घेराव की सूचना पाने पर मुख्य चिकित्सा

अधिकारी उस दिन कार्यालय पहुंचे ही नहीं, लेकिन उसके बावजूद स्वास्थ्य कर्मी वहीं डटे रहे। स्वास्थ्यकर्मियों की एकजुटता को देखते हुए मुख्य चिकित्सा अधिकारी ने उनकी सभी माँगें लिखित रूप से मान लीं। बिगुल मज़दूर दस्ता और दिशा छात्र संगठन के कार्यकर्ता स्वास्थ्य कर्मियों की माँगों के समर्थन में धरना स्थल पर पहुंचे तथा उनकी सभा में बिगुल मज़दूर दस्ता के प्रसेन ने बात रखी। प्रसेन ने कहा कि तात्कालिक मुद्दों पर कर्मचारियों के आन्दोलन तो होते रहते हैं, लेकिन जनविरोधी नीतियों के

खिलाफ़ देशव्यापी आन्दोलन की कोई रणनीति नहीं बनाई जाती। इसके अलावा तात्कालिक मुद्दों पर होने वाले आन्दोलन भी बिखरे होने के चलते किसी नतीजे की तरफ नहीं पहुंचते। इन आन्दोलनों का नेतृत्व भी काफी हद तक चुनावी पार्टियों की ट्रेड-यूनियनों, संशोधनवादियों व सुधारवादियों के हाथों में है। इस वजह से तमाम आन्दोलनों के बावजूद भी कर्मचारी लगातार अपने हकों-अधिकारों को खोते जा रहे हैं। अब यह अनिवार्य हो गया है कि उदारीकरण-निजीकरण की नीतियों के खिलाफ़ मज़दूरों, छात्रों और

कर्मचारियों का एक संगठित देशव्यापी प्रतिरोध खड़ा किया जाय। बिगुल मज़दूर दस्ता और दिशा छात्र संगठन के कार्यकर्ताओं ने धरना स्थल पर हड़ताल के समर्थन में क्रान्तिकारी गीत गाये।

निर्धारित मानकों के हिसाब से 5000 की आबादी पर कम से कम एक महिला तथा एक पुरुष स्वास्थ्य कर्मी की नियुक्ति होनी चाहिए, लेकिन एक स्वास्थ्य कर्मी को 15000 की आबादी पर अकेले काम करने के लिए बाध्य किया जा रहा है। सार्वजनिक स्वास्थ्य सेवाओं की कमर तोड़कर वास्तव में यह

व्यवस्था देश की बहाल स्थिति में जी रही देश की बड़ी आबादी को बेमौत मार रही है। अभी गोरखपुर के बी।आर।डी। मेडिकल कॉलेज में बच्चों की मौत से लेकर फर्रुखाबाद में होने वाली मौतें उदारीकरण-निजीकरण द्वारा की गयी हत्याओं एक उदाहरण भर हैं। ऐसे में आज इन कर्मचारियों, मज़दूरों, छात्रों के आन्दोलनों को आपस में पिरोकर एक उदारीकरण-निजीकरण की नीतियों के खिलाफ़ देशव्यापी आन्दोलन की दिशा में बढ़ने की ज़रूरत है।

- बिगुल संवाददाता

गौरी लंकेश का आखिरी सम्पादकीय - फ़र्ज़ी ख़बरों के ज़माने में

'गौरी लंकेश पत्रिका' नाम है पत्रिका का। 16 पन्नों की यह पत्रिका हर हफ्ते निकलती है। 15 रुपये कीमत होती है। 13 सितम्बर का अंक गौरी लंकेश के लिए आखिरी साबित हुआ। हमने अपने मित्र की मदद से उनके आखिरी सम्पादकीय का हिन्दी में अनुवाद किया है ताकि आपको पता चल सके कि कन्नड़ में लिखने वाली इस पत्रकार की लिखावट कैसी थी, उसकी धार कैसी थी। हर अंक में गौरी 'कण्डा हागे' नाम से कॉलम लिखती थीं। कण्डा हागे का मतलब होता है - जैसा मैंने देखा। उनका सम्पादकीय पत्रिका के तीसरे पन्ने पर छपता था। इस बार का सम्पादकीय फ़ेक न्यूज़ पर था और उसका टाइटल था - फ़ेक न्यूज़ के ज़माने में। - रवीश कुमार

इस हफ्ते के इश्यू में मेरे दोस्त डॉ. वासु ने गोएबल्स की तरह इण्डिया में फ़ेक न्यूज़ बनाने की फ़ैक्टरी के बारे में लिखा है। झूठ की ऐसी फ़ैक्टरियाँ ज्यादातर मोदी भक्त ही चलाते हैं। झूठ की फ़ैक्टरी से जो नुक़सान हो रहा है, मैं उसके बारे में अपने सम्पादकीय में बताने का प्रयास करूँगी। अभी परसों ही गणेश चतुर्थी थी। उस दिन सोशल मीडिया में एक झूठ फैलाया गया। फैलाने वाले संघ के लोग थे। यह झूठ क्या है? झूठ यह है कि कर्नाटक सरकार जहाँ बोलेंगी वहीं गणेश जी की प्रतिमा स्थापित करनी है, उसके पहले दस लाख का डिपॉज़िट करना होगा, मूर्ति की ऊँचाई कितनी होगी, इसके लिए सरकार से अनुमति लेनी होगी, दूसरे धर्म के लोग जहाँ रहते हैं उन रास्तों से विसर्जन के लिए नहीं ले जा सकते हैं। पटाखे बग़ैर नहीं छोड़ सकते हैं। संघ के लोगों ने इस झूठ को ख़ूब फैलाया। यह झूठ इतना जोर से फैल गया कि अन्त में कर्नाटक के पुलिस प्रमुख आर के दत्ता को प्रेस बुलानी पड़ी और सफ़ाई देनी पड़ी कि सरकार ने ऐसा कोई नियम नहीं बनाया है। यह सब झूठ है।

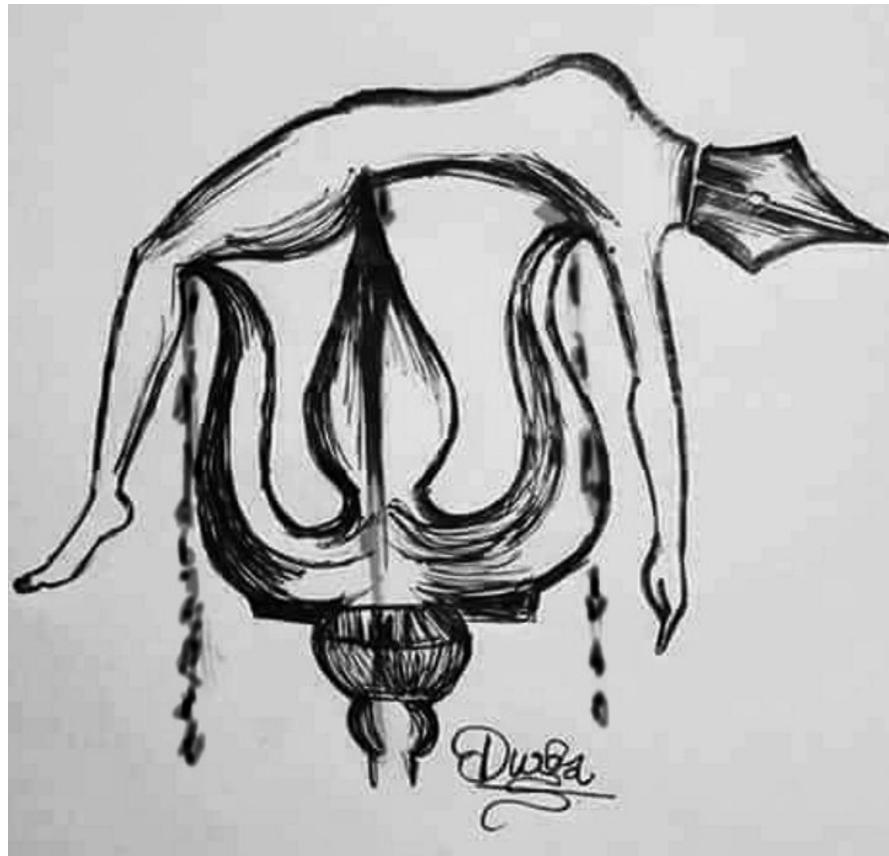
इस झूठ का सोर्स जब हमने पता करने की कोशिश की तो वो जाकर पहुँचा POSTCARD.IN नाम की वेबसाइट पर। यह वेबसाइट पक्के हिन्दुत्ववादियों की है। इसका काम हर दिन फ़ेक न्यूज़ बनाकर बनाकर सोशल मीडिया में फैलाना है। 11 अगस्त को POSTCARD.IN में एक हैडिंग लगायी गयी। कर्नाटक में तालिबान सरकार। इस हैडिंग के सहारे राज्य-भर में झूठ फैलाने की कोशिश हुई। संघ के लोग इसमें कामयाब भी हुए। जो लोग किसी-न-किसी वजह से सिद्धारमैया सरकार से नाराज़ रहते हैं, उन लोगों ने इस फ़ेक न्यूज़ को अपना हथियार बना लिया। सबसे आश्चर्य और खेद की बात है कि लोगों ने भी बग़ैर सोचे-समझे इसे सही मान लिया। अपने कान, नाक और भेजे का इस्तमाल नहीं किया।

पिछले सप्ताह जब कोर्ट ने राम रहीम नाम के एक ढोंगी बाबा को बलात्कार के मामले में सज़ा सुनायी तब उसके साथ बीजेपी के नेताओं की कई तस्वीरें सोशल मीडिया में वायरल होने लगीं। इस ढोंगी बाबा के साथ मोदी के साथ-साथ हरियाणा के बीजेपी विधायकों की फ़ोटो और वीडियो वायरल होने लगीं। इससे बीजेपी और संघ परिवार परेशान हो गये। इसे काउण्टर करने के लिए गुरमीत बाबा के बाजू में केरल के सीपीएम के मुख्यमंत्री पिनराई विजयन के बैठे होने की तस्वीर वायरल करा दी गयी। यह तस्वीर फ़ोटोशॉप थी। असली तस्वीर में कांग्रेस के नेता ओमन चाण्डी बैठे हैं लेकिन उनके धड़ पर विजयन का सर लगा दिया गया और संघ के लोगों ने इसे सोशल मीडिया में फैला दिया। शुक्र है संघ का यह तरीक़ा कामयाब नहीं हुआ क्योंकि कुछ लोग तुरन्त ही इसका ओरिजनल फ़ोटो निकाल लाये और सोशल मीडिया में सच्चाई सामने रख दी।

एक्चुअली, पिछले साल तक राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के फ़ेक न्यूज़ प्रोपेगैण्डा को रोकने या सामने लाने वाला कोई नहीं था। अब बहुत से लोग इस तरह के काम में जुट गये हैं, जो कि अच्छी बात है। पहले इस तरह के फ़ेक न्यूज़ ही चलती रहती थी, लेकिन अब फ़ेक न्यूज़ के साथ-साथ असली न्यूज़ भी आनी शुरू हो गयी हैं और लोग पढ़ भी रहे हैं।

उदाहरण के लिए 15 अगस्त के दिन जब लाल किले से प्रधानमन्त्री मोदी ने भाषण दिया तो उसका एक विश्लेषण 17 अगस्त को ख़ूब वायरल हुआ। ध्रुव राठी ने उसका विश्लेषण किया था। ध्रुव राठी देखने में तो कॉलेज के लड़के जैसा है, लेकिन वो पिछले कई महीनों से मोदी के झूठ की पोल सोशल

मीडिया में खोल देता है। पहले ये वीडियो हम जैसे लोगों को ही दिख रहा था, आम आदमी तक नहीं पहुँच रहा था, लेकिन 17 अगस्त का वीडियो एक दिन में एक लाख से ज्यादा लोगों तक पहुँच गया। (गौरी लंकेश अक्सर मोदी को बूसी बसिया लिखा करती थीं जिसका मतलब है जब भी मुँह खोलेगा झूठ ही बोलेगा)। ध्रुव राठी ने बताया कि राज्य सभा में 'बूसी बसिया' की सरकार ने राज्य सभा में महीना-भर पहले कहा कि 33 लाख नये करदाता आये हैं। उससे भी पहले वित्त मन्त्री जेटली ने 91 लाख नये करदाताओं के जुड़ने की बात कही थी। अन्त में आर्थिक सर्वे में कहा गया कि सिर्फ़ 5 लाख 40 हजार नये करदाता जुड़े हैं। तो इसमें कौन-सा



सच है, यही सवाल ध्रुव राठी ने अपने वीडियो में उठाया है।

आज की मेनस्ट्रीम मीडिया केन्द्र सरकार और बीजेपी के दिये आँकड़ों को जस का तस वेद वाक्य की तरह फैलाती रहती है। मेन स्ट्रीम मीडिया के लिए सरकार का बोला हुआ वेद वाक्य हो गया है। उसमें भी जो टीवी न्यूज़ चैनल हैं, वो इस काम में दस क्रदम आगे हैं। उदाहरण के लिए, जब रामनाथ कोविन्द ने राष्ट्रपति पद की शपथ ली तो उस दिन बहुत सारे अंग्रेज़ी टीवी चैनलों ने ख़बर चलायी कि सिर्फ़ एक घण्टे में ट्वीटर पर राष्ट्रपति कोविन्द के फ़ोलोअर की संख्या 30 लाख हो गयी है। वो चिल्लाते रहे कि 30 लाख बढ़ गया, 30 लाख बढ़ गया। उनका मक़सद यह बताना था कि कितने लोग कोविन्द को सपोर्ट कर रहे हैं। बहुत से टीवी चैनल आज राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ की टीम की तरह हो गये हैं। संघ का ही काम करते हैं। जबकि सच यह था कि उस दिन पूर्व राष्ट्रपति प्रणब मुखर्जी का सरकारी अकाउण्ट नये राष्ट्रपति के नाम हो गया। जब ये बदलाव हुआ तब राष्ट्रपति भवन के फ़ोलोअर अब कोविन्द के फ़ोलोअर हो गये। इसमें एक बात और भी ग़ौर करने वाली यह है कि प्रणब मुखर्जी को भी तीस लाख से भी ज्यादा लोग ट्वीटर पर फ़ोलो करते थे।

आज राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के इस तरह के फैलाये गये फ़ेक न्यूज़ की सच्चाई लाने के लिए बहुत से लोग सामने आ चुके हैं। ध्रुव राठी वीडियो के माध्यम से ये काम कर रहे हैं। प्रतीक सिन्हा altnews.in नाम की वेबसाइट से ये काम कर रहे हैं। होक्स

स्लेयर, बूम और फ़ैक्ट चेक नाम की वेबसाइट भी यही काम कर रही है। साथ ही साथ THEWIERYE.COM, SCROLL.IN, NEWSLAUNDRY.COM, THEQUINT.COM जैसी वेबसाइट भी सक्रिय हैं। मैंने जिन लोगों के नाम बताये हैं, उन सभी ने हाल ही में कई फ़ेक न्यूज़ की सच्चाई को उजागर किया है। इनके काम से संघ के लोग काफ़ी परेशान हो गये हैं। इसमें और भी महत्व की बात यह है कि ये लोग पैसे के लिए काम नहीं कर रहे हैं। इनका एक ही मक़सद है कि फ़ासिस्ट लोगों के झूठ की फ़ैक्टरी को लोगों के सामने लाना।

कुछ हफ्ते पहले बंगलुरु में जोरदार बारिश हुई। उस टाइम पर संघ के लोगों ने एक फ़ोटो वायरल

आप किसी भी तस्वीर को डालकर जान सकते हैं कि ये कहाँ और कब की है। प्रतीक सिन्हा ने यही काम किया और उस ऐप्लिकेशन के ज़रिये गडकरी के शेर किये गये फ़ोटो की सच्चाई उजागर कर दी। पता चला कि ये फ़ोटो हैदराबाद का नहीं है। पाकिस्तान का है जहाँ एक प्रतिबन्धित कट्टरपन्थी संगठन भारत के विरोध में तिरंगे को जला रहा है।

इसी तरह एक टीवी पैनल के डिस्कशन में बीजेपी के प्रवक्ता सम्बित पात्रा ने कहा कि सरहद पर सैनिकों को तिरंगा लहराने में कितनी मुश्किलें आती हैं, फिर जेएनयू जैसे विश्वविद्यालयों में तिरंगा लहराने में क्या समस्या है। यह सवाल पूछकर सम्बित ने एक तस्वीर दिखायी। बाद में पता चला कि यह एक मशहूर तस्वीर है मगर इसमें भारतीय नहीं, अमरीकी सैनिक हैं। दूसरे विश्व युद्ध के दौरान अमरीकी सैनिकों ने जब जापान के एक द्वीप पर कब्ज़ा किया तब उन्होंने अपना झण्डा लहराया था। मगर फ़ोटोशाप के ज़रिये सम्बित पात्रा लोगों को चकमा दे रहे थे। लेकिन ये उन्हें काफ़ी भारी पड़ गया। ट्वीटर पर सम्बित पात्रा का लोगों ने काफ़ी मज़ाक़ उड़ाया।

केन्द्रीय मन्त्री पीयूष गोयल ने हाल ही में एक तस्वीर साझा की। लिखा कि भारत के 50,000 किलोमीटर रास्तों पर सरकार ने तीस लाख एलईडी बल्ब लगा दिये हैं। मगर जो तस्वीर उन्होंने लगायी वो फ़ेक निकली। वो भारत की नहीं, बल्कि 2009 में जापान की तस्वीर थी। इसी गोयल ने पहले भी एक ट्वीट किया था कि कोयले की आपूर्ति में सरकार ने 25,900 करोड़ की बचत की है। उस ट्वीट की तस्वीर भी झूठी निकली।

छत्तीसगढ़ के पीडब्ल्यूडी मन्त्री राजेश मूणत ने एक ब्रिज का फ़ोटो शेर किया। अपनी सरकार की कामयाबी बतायी। उस ट्वीट को 2000 लाइक मिले। बाद में पता चला कि वो तस्वीर छत्तीसगढ़ की नहीं, वियतनाम की है।

ऐसे फ़ेक न्यूज़ फैलाने में हमारे कर्नाटक के आरएसएस और बीजेपी लीडर भी कुछ कम नहीं हैं। कर्नाटक के सांसद प्रताप सिन्हा ने एक रिपोर्ट शेर की, कहा कि ये टाइम्स ऑफ़ इण्डिया में आयी है। उसकी हेडलाइन थी कि हिन्दू लड़की को मुसलमान ने चाकू मारकर हत्या कर दी। दुनिया-भर को नैतिकता का ज्ञान देने वाले प्रताप सिन्हा ने सच्चाई जानने की ज़रा भी कोशिश नहीं की। किसी भी अख़बार ने इस न्यूज़ को नहीं छापा था, बल्कि फ़ोटोशाप के ज़रिये किसी दूसरी न्यूज़ में हेडलाइन लगा दिया गया था और हिन्दू मुस्लिम रंग दिया गया। इसके लिए टाइम्स ऑफ़ इण्डिया का नाम इस्तेमाल किया गया। जब हंगामा हुआ कि ये तो फ़ेक न्यूज़ है तो सांसद ने डिलिट कर दिया, मगर माफ़ी नहीं माँगी। साम्प्रदायिक झूठ फैलाने पर कोई पछतावा ज़ाहिर नहीं किया।

जैसा कि मेरे दोस्त वासु ने इस बार के कॉलम में लिखा है, मैंने भी बिना समझे एक फ़ेक न्यूज़ शेर कर दी। पिछले रविवार पटना की अपनी रैली की तस्वीर लालू यादव ने फ़ोटोशॉप करके साझा कर दी। थोड़ी देर में दोस्त शशिधर ने बताया कि ये फ़ोटो फ़र्ज़ी है। नक़ली है। मैंने तुरन्त हटाया और ग़लती भी मानी। यही नहीं फ़ेक और असली तस्वीर दोनों को एक साथ ट्वीट किया। इस ग़लती के पीछे साम्प्रदायिक रूप से भड़काने या प्रोपेगैण्डा करने की मंशा नहीं थी। फ़ासिस्टों के खिलाफ़ लोग जमा हो रहे थे, इसका सन्देश देना ही मेरा मक़सद था। फ़ाइनली, जो भी फ़ेक न्यूज़ को एक्सपोज़ करते हैं, उनको सलाम। मेरी ख़्वाहिश है कि उनकी संख्या और भी ज्यादा हो।

प्रस्तुति : रवीश कुमार

जीडीपी की विकास दर में गिरावट और अर्थव्यवस्था की बिगड़ती हालत सबसे बुरी मार मेहनतकशों पर ही पड़नी है

— मुकेश असीम

वित्तीय वर्ष 2017-18 की पहली तिमाही अप्रैल-जून के लिए सकल घरेलू उत्पाद (जीडीपी) के आँकड़े घोषित हुए तो इसमें वृद्धि की दर मात्र 5.7% ही रही। ऐसे बहुत से विश्लेषक और अर्थशास्त्री हैं जो इस गिरावट पर अचम्भा प्रकट कर रहे हैं, लेकिन जो लोग भी सरकारी प्रचार तन्त्र से प्रभावित हुए बगैर अर्थव्यवस्था की वास्तविक गति-स्थिति पर नज़र रखते हैं, उनके लिए इसमें अचम्भे की कोई बात नहीं। जीडीपी गणना का आधार वर्ष और पद्धति बदलकर वृद्धि दर को कृत्रिम ढंग से बढ़ा देने के स्वांग के बावजूद भी 2016 की शुरुआत से ही अर्थव्यवस्था में ज़बरदस्त तेज़ी के प्रचार के नाटक से पर्दा उठाने लगा था और इसकी वास्तविक कमजोरी सामने आने लगी थी। नोटबन्दी नामक नरेन्द्र मोदी के घातक 'मास्टरस्ट्रोक' ने तो इसकी मज़बूती की धुरियाँ ही उड़ा दीं और इसका संकट देश की अधिकांश जनता के जीवन में भारी मुसीबत बनकर स्पष्ट रूप से सामने आ गया। रही-सही कमी इस तिमाही में जीएसटी के लागू करने की तैयारियों ने निकाल दी। ये दोनों अर्थव्यवस्था के संकट का मूल कारण तो नहीं हैं, लेकिन करेले पर नीम चढ़े की तरह इन्होंने संकट की गति को अचानक तीव्र ज़रूर किया है। इसलिए जिस दिन रद्द किये गये नोटों के 99% के वापस आने की खबर ने नोटबन्दी के ताबूत में आखिरी कील ठोंकी, उसके ठीक अगले दिन ही जीडीपी में गहरी गिरावट की सूचना को बड़ी संख्या में लोगों ने साथ जोड़कर देखा और अपने द्वारा सही गयी मुसीबतों के लिए मोदी सरकार के इस विनाशकारी क्रम को पूरी तरह ज़िम्मेदार मान लिया है।

जीडीपी और अर्थव्यवस्था के और विश्लेषण के पहले इस दर को कितना भरोसे लायक माना जाये इस पर कुछ टिप्पणी ज़रूरी है। भारत में जीडीपी की गणना करने वाला सांख्यिकी संगठन इसके लिए सिर्फ संगठित क्षेत्र से ही सूचना इकट्ठा करता है, अनौपचारिक क्षेत्र से नहीं, जबकि यह देश की अर्थव्यवस्था का 40% से अधिक है। राष्ट्रीय सैम्पल सर्वेक्षण की 2015-16 की 73वें दौर की रिपोर्ट बताती है कि देश में कृषि के अतिरिक्त ऐसे 6 करोड़ 30 लाख गैर पंजीकृत कारोबार हैं जिनमें 11 करोड़ से अधिक लोग रोजगार पाते हैं। फिर जीडीपी की गणना कैसे होती है? औपचारिक संगठित क्षेत्र की वृद्धि को ही अनौपचारिक क्षेत्र की ही वृद्धि मानकर उसे भी उसी अनुपात में बढ़ा दिया जाता है। किन्तु दोनों में वृद्धि की दर को एक समान मान लेने की अवधारणा तथ्यपूर्ण नहीं है। नोटबन्दी के असर के बारे में सभी विश्लेषकों ने माना है कि इसका अधिक असर अनौपचारिक क्षेत्र पर ही हुआ है जहाँ नक़दी का उपयोग ज्यादा होता रहा है। इसके मुकाबले

संगठित क्षेत्र के कुछ कारोबारों को तो इसका फ़ायदा भी हुआ था, क्योंकि बहुत सारे लोग नक़दी की कमी और सामान्य कारोबारियों के बन्द होने की मज़बूती में अपनी ज़रूरतों की पूर्ति के लिए औपचारिक क्षेत्र के कारोबार से करने लगे थे। लेकिन अनौपचारिक क्षेत्र के बहुत से कारोबार बन्द हो गये थे और बड़े पैमाने पर इस क्षेत्र के कर्मियों को बेरोज़गार हो जाना पड़ा था, जो अब तक भी वापस रोजगार पाने में कामयाब नहीं हुए हैं। अचल सम्पत्ति और विनिर्माण सहित यही क्षेत्र अर्थव्यवस्था में सबसे अधिक रोजगार प्रदान करने वाले हैं और यह सर्वविदित है कि ये अभी भी नोटबन्दी के विनाशक प्रभाव से बाहर नहीं निकल पाये हैं। इसलिए इनकी वृद्धि दर को औपचारिक क्षेत्र के बराबर मानने की अवधारणा मूलतः त्रुटिपूर्ण है और जीडीपी की वृद्धि दर को कृत्रिम रूप से ऊँचा कर देती है।

जीडीपी वृद्धि दर का एक महत्वपूर्ण भाग औद्योगिक उत्पादन की स्थिति है। इसकी गणना के तरीके में भी कुछ अजीब-सी स्थिति सामने आ रही है कि औद्योगिक उत्पादन में पेट की गैस की दवाएँ, जिन्हें एण्टासिड की गोलियों के नाम से भी जाना जाता है, का एक महत्वपूर्ण योगदान है! जून 2017 के महीने में औद्योगिक उत्पादन सूचकांक (आईआईपी) की वृद्धि दर गिरावट के साथ नकारात्मक -0.10% रही; लेकिन कमाल की बात यह कि इस वृद्धि में गैस की गोलियों का हिस्सा 1.54% रहा अर्थात् अगर इसे निकाल दिया तो इसमें भारी गिरावट होती। अप्रैल और मई के महीने में भी आईआईपी की दर क्रमशः 1.70% और 3.10% बतायी गयी, जिसमें से गैस की गोलियों का योगदान क्रमशः 1.96% और 2.42% रहा! जुलाई की हालत भी ऐसी ही है, 1.20% की वृद्धि दर में 1.39% सिर्फ गैस की गोलियों से आया! मतलब औद्योगिक उत्पादन में वृद्धि पूरी तरह इन गैस की गोलियों पर टिकी है! अब इतनी गैस की दवाएँ कौन बना रहा है और कौन खा रहा है, ये तो मोदी-जेटली और उनकी सरकार ही बता सकती है! लेकिन यह जीडीपी और अर्थव्यवस्था के सम्पूर्ण सरकारी आँकड़ों को सन्देहास्पद तो बना ही देता है।

अब हम जीडीपी को बढ़ाने वाली अर्थव्यवस्था की कुल माँग के विभिन्न भागों की चर्चा करेंगे। इसके 6 भाग होते हैं - सरकारी उपभोग, निजी उपभोग, स्थाई पूँजी निवेश, विदेशी व्यापार खाते का बैलेंस, वस्तुओं के भण्डारण की मात्रा में परिवर्तन और बहुमूल्य वस्तुएँ जैसी सोना, चाँदी, गहने, कलाकृतियाँ और अन्य अनोखी चीज़ें। द मिण्ट के

एक लेख में सुदीप्तो मण्डल ने सही टिप्पणी की है कि अभी अर्थव्यवस्था की स्थिति 6 इंजनों वाले उस हवाई जहाज़ की है जिसके 5 इंजन बन्द पड़ चुके हैं और वह एक ही इंजन के सहारे उड़ने की कोशिश कर रहा है।

यह अकेला इंजन है सरकारी उपभोग खर्ची अर्थव्यवस्था में संकट और रोजगार के संकट की वजह से निजी आमदनी बढ़ नहीं रही है, लोग भविष्य के प्रति आशंकित हैं और बाज़ार में गैर-ज़रूरी खरीदारी से बच रहे हैं, इसलिए आम तौर पर जीडीपी को



गति देने वाला सबसे बड़ा हिस्सा निजी माँग और उपभोग स्वाभाविक तौर पर ही दबाव में है और अर्थव्यवस्था को गति देने में असमर्थ है। यह पिछले साल की पहली तिमाही में 8.4% बढ़ा था, लेकिन इस तिमाही में मात्र 6.1% बढ़ा है। ऐसी स्थिति में सरकारी उपभोग का खर्च ही वह एकमात्र इंजन है जो गाड़ी को खींचने में लगा है। अप्रैल-जून 2017 की तिमाही में इसमें 17.2% की वृद्धि हुई है। नतीजा यह है कि इस पूरे वित्तीय वर्ष के सरकारी खर्च का अधिकांश - 92.4% - पहले चार महीनों अर्थात् जुलाई तक ही खर्च हो चुका है। फिर आगे अगर जीडीपी की गति को जारी रखना है तो बड़े वित्तीय घाटे अर्थात् कर्ज़ लेकर ही किया जा सकता है जो बाद में जनता पर टैक्सों के बोझ को ही बढ़ायेगा। एक सवाल यह भी उठता है कि इतना सरकारी खर्च आखिर हो कहाँ रहा है? शिक्षा, स्वास्थ्य, महिला-बाल कल्याण, आदिवासी-दलित कल्याण, आदि कल्याण योजनाओं पर तो बजट खर्च कम हुआ है तो बढ़त कहाँ है? अगर कुछ हिस्सा आधारभूत ढाँचे - सड़कों, आदि - पर भी मान लिया जाये तब भी सवाल अनुत्तरित ही रह जाता है। क्या यह खर्च अनुत्पादक सरकारी अमले जैसे पुलिस, अफ़सरशाही और अस्त्र-शस्त्र, आदि पर किया जा रहा है? इससे तो अर्थव्यवस्था अर्थात् जनता पर बोझ बढ़ने ही वाला है।

सरकारी उपभोग के अतिरिक्त अर्थव्यवस्था में कुल माँग को प्रभावित करने वाले दो अन्य अंग हैं - स्थाई पूँजी निवेश या कुल स्थाई पूँजी निर्माण और व्यापार खाते का बैलेंस। इनमें से कुल स्थाई पूँजी निर्माण 2016-17 की पहली तिमाही के 7.4% के मुकाबले तेज़ी से

गिरकर इस तिमाही में मात्र 1.6% ही रह गया है। यह गिरावट और भी स्पष्ट होगी, अगर औद्योगिक उत्पादन सूचकांक पर ध्यान दिया जाये - कैपिटल गुड्स अर्थात् पूँजीगत वस्तुओं का उत्पादन इस तिमाही में 3.9% गिरा है। अगर सिर्फ जून महीने को देखें तो गिरावट और भी ज्यादा अर्थात् 6.8% रही। इसका अर्थ है कि निजी पूँजी निवेश नहीं हो रहा है, क्योंकि पहले ही कम माँग के कारण उद्योग स्थापित क्षमता के लगभग 70% पर काम कर रहे हैं। फिर कोई नये उद्योग में निवेश की योजना कैसे बनाये?

वर्ष 2011-12 में 34% के उच्चतम स्तर के बाद से यह गिरावट निरन्तर जारी है। 2016-17 तक यह 29.3% ही रह गया था। इसमें से भी निजी निवेश का योगदान देखें तो वह 2011-12 के 27% से 2016-17 में घटकर 21.9% ही रह गया। इस साल भी यह गिरावट जारी है। पिछली मनमोहन सिंह और अब

की नरेन्द्र मोदी दोनों सरकारों की तमाम कोशिशों - ईज ऑफ़ डूइंग बिज़नेस हो या मेक इन इण्डिया, तमाम क्रिस्म की टैक्स, वित्तीय और वातावरण, श्रम कानून, आदि की रियायतें, निजी पूँजी निवेश है कि बढ़ने का नाम नहीं ले रहा। कुछ रिपोर्टों के अनुसार तो भारतीय पूँजीपति देश के बजाय विदेशों में ज्यादा निवेश करते हैं। वैसे भी राष्ट्रवाद का सबक सिर्फ आम जनता के लिए होता है कि देश के लिए कुर्बानी करें, पूँजीपतियों के लिए नहीं! पूँजीपति राष्ट्रवाद के लिए नहीं, वहाँ निवेश करता है जहाँ मुनाफ़ा अधिक मिले! 60 वर्षों में उद्योगों को लगभग सबसे निचले स्तर की कर्ज़ वृद्धि भी इसकी पुष्टि करती है। इस सबके बावजूद भी कोई अन्धभक्त ही इस बात पर भरोसा करता रह सकता है कि अचानक पूँजी निवेश की स्थिति सुधर कर अर्थव्यवस्था तेज़ गति पकड़ लेगी।

जीडीपी में माँग का एक और महत्वपूर्ण कारक विदेश व्यापार खाते का बैलेंस तो भारत में पहले ही नकारात्मक कारक है, क्योंकि भारत का विदेश व्यापार खाता सरप्लस नहीं बल्कि घाटे में चलता है। इस तिमाही में यह घाटा पिछले वर्ष की इसी तिमाही के मुकाबले 295% बढ़ा है यानी लगभग 4 गुना हो गया। निर्यात में मन्दी और आयात में 13% वृद्धि ने अर्थव्यवस्था को तगड़ा झटका दिया है। आयात में यह भारी वृद्धि तब हुई है, जबकि पेट्रोलियम समेत अनेक ज़िंसों के दाम अन्तर्राष्ट्रीय बाज़ार में काफ़ी कम हैं। निर्यात में मन्दी के पीछे एक कारण तो सम्पूर्ण पूँजीवादी व्यवस्था के संकट के चलते वैश्विक माँग में कमी है। लेकिन यहाँ भी भारत की निर्यात वृद्धि दूसरे देशों से कम रही है, जिसका कारण मोदी जी पूँजी बाज़ार में

विदेशी पूँजी को आमन्त्रित करने से रुपये की कीमत में हुई वृद्धि है। इसने निर्यात को महँगा और आयात को सस्ता कर दिया है, जबकि देश में उत्पादन वृद्धि के बजाय मात्र शेयर बाज़ार में कीमतें बढ़ाई हैं।

जीडीपी के दो और बचे हिस्से हैं - भण्डारण की मात्रा और बहुमूल्य ज़िंसों। जीएसटी की तैयारी में भण्डारण की मात्रा में कमी को सरकार जीडीपी की वृद्धि दर के लिए ज़िम्मेदार बता रही है, लेकिन काफ़ी सारे विश्लेषकों ने यह तथ्य प्रस्तुत किया है कि यह कमी इस तिमाही में नहीं, बल्कि पहले से ही जारी थी और इसे इस तिमाही की गिरावट के लिए ज़िम्मेदार नहीं माना जा सकता। जहाँ तक बहुमूल्य ज़िंसों का सवाल है इन पर खर्च 200% बढ़ा है जो माँग के अन्यथा परिवर्तन को दर्शाता है। उत्पादक निवेश की सम्भावनाओं की कमी से इन बहुमूल्य वस्तुओं में गैर-उत्पादक निवेश बढ़ रहा है।

एक और बात जिस पर ध्यान देने की ज़रूरत है, वह है कृषि क्षेत्र। अच्छे मानसून की वजह से इसमें गतिविधि बढ़ी थी और उत्पादन भी 2.3% बढ़ा है। लेकिन कीमतों में गिरावट की वजह से मूल्य के रूप में देखें तो कुल उत्पादन मात्र 0.3% बढ़ा। अर्थात् किसानों को मिलने वाले धन में कोई वृद्धि नहीं हुई, जबकि अधिक गतिविधि पर श्रम और अन्य अवयवों की लागत बढ़ना तथ्य है। इस प्रकार इस अच्छे उत्पादन के वर्ष में भी किसानों का घाटा और छोटे किसानों की विपन्नता निश्चित ही बढ़ी है जो पूँजीवाद का अनिवार्य परिणाम है। लेकिन यह भी निजी उपभोग माँग को नीचे ले जाता है।

कुल मिलाकर यह तस्वीर बताती है कि अर्थव्यवस्था में जारी संकट किसी एक क्षेत्र में न होकर एक सर्वव्यापक संकट है। आश्चर्य इस बात पर नहीं होना चाहिए कि जीडीपी की वृद्धि दर गिरी है, बल्कि इस बात पर होना चाहिए कि यह इतनी कम कैसे गिरी है! इतनी वृद्धि दर भी एक अचम्भा है और हमने ऊपर पहले ही इसकी गणना की पद्धति पर कुछ सवाल उठाये थे, जो इसके लिए ज़िम्मेदार हो सकते हैं। इस बात पर विभिन्न पूँजीवादी संस्थानों के विश्लेषक भी सहमत हैं। क्रेडिट सुइस इण्डिया के अनुसार भारतीय अर्थव्यवस्था इस समय घने अन्धेरे दौर से गुज़र रही है। जीएसटी सहित विभिन्न संरचनात्मक सुधारों की वजह से निकट भविष्य में वृद्धि, वित्तीय सेहत, मुद्रास्फीति, मुद्रा और बैंकिंग प्रणाली को लेकर गहन अनिश्चितता की स्थिति पैदा हुई है। वृहद आर्थिक मोर्चे पर अनिश्चितता के चलते भारतीय अर्थव्यवस्था घने कोहरे से होकर गुज़र रही है। इससे निवेश प्रभावित होगा, जिससे वृद्धि नीचे आयेगी, जीडीपी भी घटेगी तथा अगले वित्त वर्ष के लिए आय का अनुमान (पेज 2 पर जारी)